जुलाई 2025 - जून 2026
मूल्य 200/-
ISSN 2277-5919

रचना क्रम

सृजन और संवाद की पत्रिका

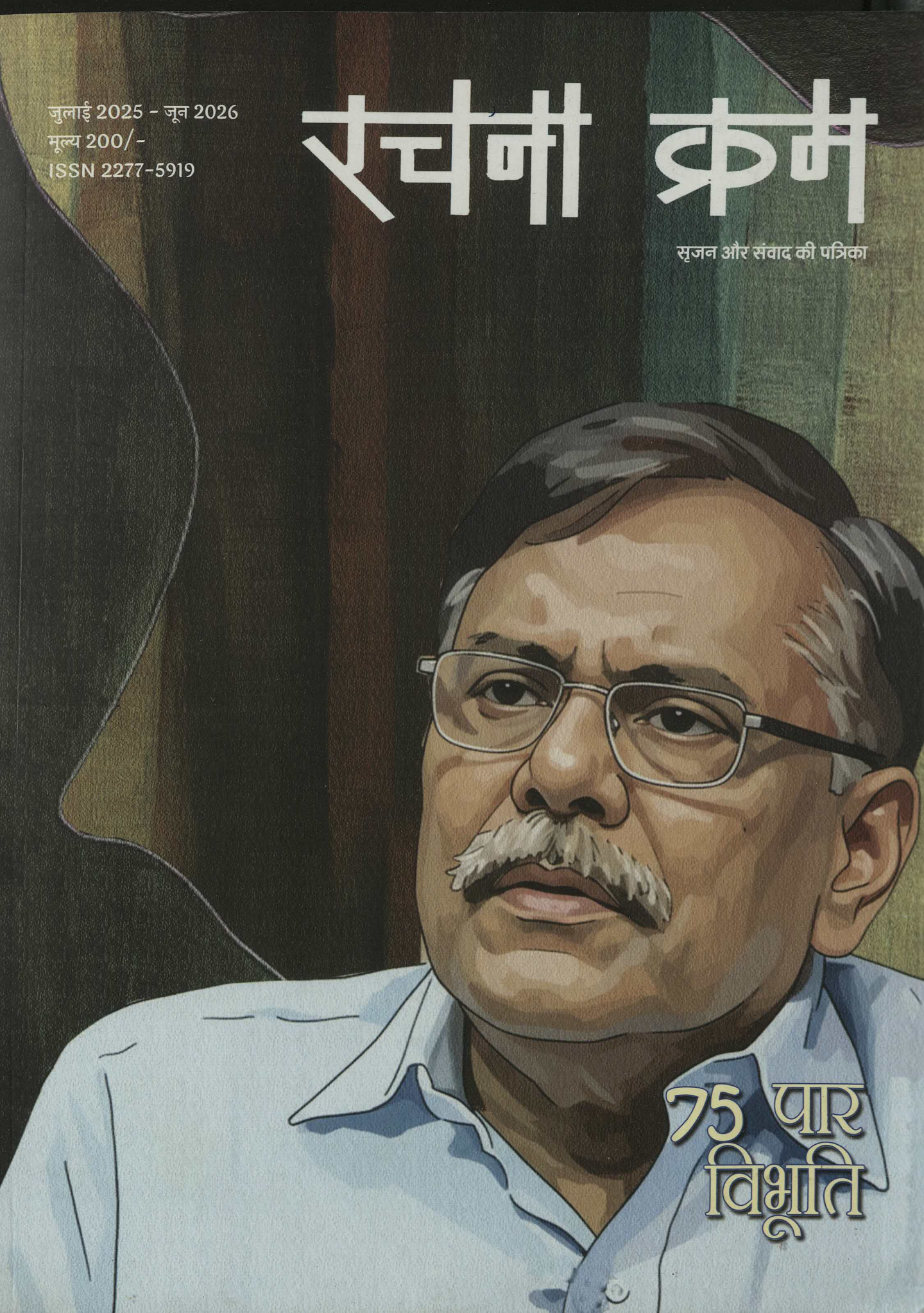

75 पार विभूति

रचना क्रम

सृजन और संवाद की पत्रिका

अंकः 4-5 (संयुक्तांक) जुलाई 2025-जून 2026

कार्यालय
ला रेजिडेंसिआ, टॉवर 22/ 1301,
नोएडा एक्सटेंशन वेस्ट, गौतमबुद्ध नगर 201318
उत्तर प्रदेश

संपादक दूरभाष
7888048765
rachnakram@gmail.com

मूल्य
200/- रुपये

पंजीकृत डाक से
250/- रुपये

संपादन, प्रकाशन, संचालन पूर्णतया अव्यवसायिक।

संपादक-प्रकाशक-स्वामी-मुद्रक अशोक कुमार मिश्र के लिए
पॉकेट डी-1/104-डी, डीडीए फ्लैट्स, कोंडली, दिल्ली-96 से
प्रकाशित और रुचिका प्रिंटर्स बी-25 डीएसआईडीसी कॉम्प्लेक्स,
झिलमिल एरिया, नई दिल्ली से मुद्रित।

आर.एन.आई. पंजीयन संख्या-
RNI NO. DELHIHIN/2011/38522

संरक्षक
बी. एल. गौड़

परामर्श मंडल
विभांशु दिव्याल
कमलेश भट्ट कमल

संपादक
अशोक मिश्र

सह-संपादक
उमेश चतुर्वेदी

विशेष प्रतिनिधि
राजकमल मिश्र

प्रबंधक
ईशा मिश्रा

प्रसार
हारिस महमूद
संपर्क : 9810786725

कला
प्रफुल्ल पलसुलेदेसाई

प्रकाशित सामग्री के उपयोग के लिए लेखक-प्रकाशक की अनुमति आवश्यक।

रचनाक्रम में व्यक्त विचार लेखकों के अपने हैं, उनसे संपादकीय सहमति जरूरी नहीं।

रचनाक्रम से संबंधित विवादों के लिए न्यायक्षेत्र गौतमबुद्ध नगर, उत्तर प्रदेश होगा।

अनुक्रम

आरंभिक

75 पार विभूति जी / 6

सृजन

मैं क्यों लिख़ता हूँ / 10
मार्क्स की कब्र पर लाबूबू / 13
इलाहाबाद में कुंभ / 14
हिंदी को हद में बांधना मुमकिन नहीं / 15
दश्त को देख के घर याद आया / 19
वर्ण व्यवस्था से मुक्ति की गाथा लिख सकते हैं शहर / 20
भारत की वर्णाश्रमी असभ्यता / 21
1857 का दलित विमर्श / 25
किसे चाहिए सभ्य पुलिस / 33
किसके लिए ध्वजारोहण अब / 35
रणभूमि में भाषा / 36

संस्मरण

विजय मोहन सिंह एक बेचैन आत्मा / 40
नामवर सिंह : बनते-बनते रह गया एक पब्लिक इंटेलेक्चुअल / 41
योद्धा पत्रकार शीतला सिंह / 42
से. रा. यात्री : प्रिय के मृत्यु की कामना / 44
वर्धा में संजीव / 45

ख़तो किताबत

मुझे आपत्ति है... : कृष्णा सोबती / 46
दस्त-बस्ता अर्ज है मलिका-ए -अफ़साना के हुजूर में... : विभूति नारायण राय / 48

संवाद

लेखन और खाकी के बीच सामंजस्य : सत्येन्द्र प्रकाश / 50
छात्र जीवन में राय भाई : आनंद मालवीय : 'पॉलिटिकल एक्टिविस्ट व साहित्य समीक्षक आनंद मालवीय से पत्रकार अनंत अन्वेषी की लंबी बातचीत' / 54

मूल्यांकन

उपन्यास और लोकतंत्र का पतन : विजयेंद्र नारायण सिंह / 57
'राग तबादला' के रंग : भारत भारद्वाज / 63
विचार के साथ क्रिया : शंभु गुप्त / 64
'तबादला' : भ्रष्टाचार का दिलचस्प आख्यान : रोहिणी अग्रवाल / 74
'घर' : संवेदना और वातावरण की अन्विति : अखिलेश / 76
चीज़ों को फिर से देखना और समझना : बसंत त्रिपाठी / 78
लोकतांत्रिक मूल्यों की पक्षधरता और 'एक छात्र का रोजनामचा' : कृष्ण कुमार सिंह / 79

राग भैरव में 'किस्सा लोकतंत्र' : अमरेन्द्र कुमार शर्मा / 83
किस्सा लोकतंत्र : कतरा-कतरा जनतंत्र : अंकित नारवाल / 84
भ्रष्टाचार की दास्तान 'तबादला' : साधना अग्रवाल / 88
सांप्रदायिकता के प्रति संवेदनशीलता का पाठ : 'सांप्रदायिक दंगे और भारतीय पुलिस' : हरियश राय / 90
हाशिमपुरा के आईने में मुसलमान और मीडिया : अटल तिवारी / 95
शब्द और सत्ता के दो पाटों के बीच : स्वाति चौधरी / 103
साहित्य में बने बनाए मिथकों को तोड़ता है 'रामगढ़ में हत्या' : अतुल सिन्हा / 105
भूतों के बीच कुछ वक्त : विभांशु दिव्याल / 106

रू-ब-रू

हमें बहुत कुछ सिखाती हैं पाकिस्तान की यात्राएं : विभूति नारायण राय
'कथाकार विभूति नारायण राय से बिपिन तिवारी और अटल तिवारी की बातचीत' / 109

आंखिन देखी

विभूति की बेबाकी विस्मयकारी : महाश्वेता देवी / 124
अपनी परंपरा कायम करने वाले अकेले लेखक : गंगा प्रसाद विमल / 125
एक पारदर्शी व्यक्तित्व : निर्मला जैन / 127
'शहर में कर्फ़्यू' के बांग्ला अनुवाद की भूमिका : नवारुण भट्टाचार्य / 128
सतत सक्रिय विभूति नारायण राय : ममता कालिया / 129
मैत्री का मल्हार राग : ए. अरविंदाक्षन / 134
नकली मूँछों वाला पुलिस ऑफ़िसर : असगर वजाहत / 136
फेंस के उस पार : दिविक रमेश / 137
हाशिए के लोगों के प्रति सकारात्मक दृष्टि : राम शरण जोशी / 139
सामाजिक चिंताएँ और विभूति जी का वैचारिक लेखन : कमलेश भट्ट कमल / 140
दोस्तों के दोस्त : क्षमा शर्मा / 144
राय साहब के लिए शुभेच्छा : प्रियदर्शन मालवीय / 146
मेरी नज़र में विभूति जी : रघुवंश मणि / 147
शौक का मरतबा जब हद से गुजर लेता है : संजय श्रीवास्तव / 149
तर्क और विवेक को तरजीह : अरविन्द कुमार सिंह / 153
मेरी दृष्टि में दलित-बहुजनों के अघोषित मित्र विभूति नारायण राय : कंवल भारती / 156
विचार का अनुशासन और स्नेह का लोक : ज्ञानचन्द बागड़ी / 160
मुलाकात, एक प्रेरणा, एक विमर्श : बी. के. शेखर / 165
पचहत्तर के विभूति और जोकहरा का पुस्तकालय : सुजीत कुमार सिंह / 167
जेल के वे दिन : सुधीर शर्मा / 170
संघर्षों से गढ़ी सेवा की मूर्ति : हुस्न तबस्सुम निहां / 171

परिसर की ध्वनियां

विभूति जी के साथ कुछ अनुभव : मनोज कुमार / 175
जिनसे प्रेम करेंगे, पाई-पाई लुटा देंगे : कृपाशंकर चौबे / 180
हिंदी विश्वविद्यालय के भागीरथ विभूति राय : मनोज कुमार राय / 182
बहुआयामी व्यक्तित्व : चित्रा माली / 184

चित्र वीथी

छायाचित्रों में विभूति नारायण राय / 185

हमें बहुत कुछ सिखाती हैं पाकिस्तान की यात्राएं : विभूति नारायण राय

(कथाकार विभूति नारायण राय से बिपिन तिवारी और अटल तिवारी की बातचीत)

बिपिन तिवारी

गोवा विश्वविद्यालय में प्राध्यापक ।

मो-9130570121

अटल तिवारी

लेखक युवा आलोचक हैं। दिल्ली विवि में प्राध्यापक।

मो-9868325191

आपने पाकिस्तान की कई यात्राएं की हैं। इन यात्राओं को लेकर 'फेस के उस पार' यात्रा वृत्तांत भी लिखा है। यदि हम भारत और पाकिस्तान को देखें तो दोनों समाजों की साझापन की रवायत रही है। उस रवायत को हम वहां जाने पर कैसे महसूस करते हैं? क्या हमारे मन में कभी उन पाकिस्तानी भाइयों के लिए ख़ास तौर से लाहौर के भाइयों को लेकर या किसी और शहर के भाइयों को लेकर दर्द उभरता है? वहां के लोगों में क्या साझेपन के विचार आज भी मौजूद हैं?

देखिए, मैं समझता हूँ कि इस प्रश्न में ही एक ख़ास तरह की समझ निहित है। आखिर हम 78 साल पहले एक ही समाज थे। एक जैसी भाषा-बोली थी। खान-पान एक जैसा था। कपड़े-लत्ते एक जैसे थे। यह भी एक सच्चाई है कि जो हिंदुस्तानी मुसलमान हैं, आप इसमें पाकिस्तानी और बांग्लादेशी को भी शरीक कर लें तो उनकी तीन चौथाई से ज़्यादा जो उपस्थिति है वह तो भारत के हिंदुओं के कन्वर्जन से हुई है। अरब से या मिडिल ईस्ट से या सेंट्रल एशिया से जाने वाले कितने लोग होंगे। इसलिए मैं समझता हूँ कि इस प्रश्न का उठना ही कहीं न कहीं इस बात का द्योतक है कि हममें कुछ अद्भुत समानताएं हैं। बावजूद भारत-पाक विभाजन और दोनों के बीच चार-पांच जंगों के, दोनों तरफ़ की नफरती राजनीति समाप्त नहीं हुई। मुझे पाकिस्तान जाने का पांच बार मौका मिला, जिसमें तीन तो मेरी सरकारी यात्राएं थीं। जाहिर है जिसमें एक ख़ास तरह की बंदिश और नियंत्रण था। ऐसे में लोगों से बहुत घुलने-मिलने का मौका नहीं मिला। लेकिन दो यात्राओं में मुझे बहुत करीब से पाकिस्तानी समाज को देखने, समझने और वहां के लोगों से घुलने मिलने का मौका मिला। सबसे पहले प्रगतिशील लेखक संघ की डागबेल डालने वाले लेखक, कम्युनिस्ट लीडर सज्जाद जहीर की जन्म शताब्दी पर भारत से 25 लेखकों का एक डेलीगेशन पाकिस्तान गया था। मेरे खयाल से यह 2005 या 2006 की बात होगी। यह यात्रा करीब एक पखवाड़े की थी। इसमें आधा समय लाहौर में और आधे का आधा समय कराची और रास्ते में बिताया था। इसे आप सीइंग इन बिलीविंग कह सकते हैं। इस डेलीगेशन में शामिल ज़्यादातर लोग विभाजन के बाद पैदा हुए थे, जिन्होंने विभाजन की विभीषिका नहीं देखी थी। इन सबकी परवरिश एक ख़ास तरह के कुप्रचार के माहौल में हुई है। इनके लिए पाकिस्तान को एक दुश्मन मुल्क होना चाहिए। वहां की जनता स्वभावतः हमारी शत्रु होनी चाहिए। इस डेलीगेशन में शामिल सभी संवेदनशील लोग थे। लेकिन जो पूर्वाग्रह यहाँ पहले निर्मित हुए थे उनमें भी कुछ न कुछ बचे ही हुए थे। हम सबके लिए सुखद आश्चर्य था, वहां जैसी खातिरदारी, वहां जैसा आतिथ्य, वहां जैसा प्रेम, सद्भाव और सहिष्णुता दिखी। हम सबके लिए वह अकल्पनीय था। मुझे सिर्फ़ लाहौर के एक कार्यक्रम की याद है, जहां एक सज्जन शराब पीकर आए थे। वह कश्मीर का जिक्र करके भारतीयों को भड़काने की कोशिश कर रहे थे। लेकिन हम सब लोग शांत बैठे रहे। हममें से किसी की दिलचस्पी लड़ाई झगड़े में भाग लेने की नहीं थी। फिर कुछ देर बाद वह भी चुप हो गए। बाकी तो वह एक अद्भुत समाज था।

मैंने 2014 में पाकिस्तान की पांचवीं यात्रा की। वहां मेरी तीन किताबें एक साथ उर्दू में प्रकाशित हुई थीं। प्रकाशक ने किताबों के विमोचन का कार्यक्रम रखा था। मैं वहां इस यात्रा में 10-12 दिन रहा। इस यात्रा में और इसके पहले की यात्रा में दस साल का वक़्फ़ा हो गया था। इस बीच में बहुत से ऐसे कारण उत्पन्न हो गए थे जिनसे दोनों देशों के बीच तनाव हुआ था। इस यात्रा में मेरे साथ मेरी पत्नी और कवियत्री वंदना मिश्र भी थीं।

मुझे पाकिस्तान जाने का पांच बार मौका मिला, जिसमें तीन तो मेरी सरकारी यात्राएं थीं। हम सबके लिए सुखद आश्चर्य होता था, वहां की खातिरदारी, वहां जैसा आतिथ्य, वहां जैसा प्रेम, सद्भाव और सहिष्णुता। हम सबके लिए वह अकल्पनीय था। मुझे सिर्फ़ लाहौर के एक कार्यक्रम की याद है, जहां एक सज्जन शराब पीकर आए थे। वह कश्मीर का जिक्र करके भारतीयों को भड़काने की कोशिश कर रहे थे। लेकिन हम सब लोग शांत बैठे रहे। हममें से किसी की दिलचस्पी लड़ाई झगड़े में भाग लेने की नहीं थी। फिर कुछ देर बाद वह भी चुप हो गए। बाकी तो वह एक अद्भुत समाज था।

हम सबका यह अनुभव रहा कि वहां एक ख़ास तरह की धारा बहती रहती है। जो प्रेम से भरी है। सद्भाव से भरी है। जो इस बात के लिए व्याकुल या चिंतित है कि दोनों देशों में संबंध सामान्य हों। कम से कम वीजा रिजीम खत्म हो। बहुत सारे पाकिस्तानी नागरिक इलाज के लिए भारत आना चाहते हैं। उन सबको यह मौका मिले। भारतीय वहां जाना चाहते हैं। वहां मोहनजोदड़ो है। अगर एक बार यह खुल जाए, यात्रा सुगम हो जाए तो हजारों की तादाद में भारतीय मोहनजोदड़ो देखना चाहेंगे। लाहौर, कराची जैसे शहरों के लिए एक ख़ास तरह का आकर्षण हम सबके मन में है। अधिकांश भारतीय वहां जाना चाहेंगे। लेकिन दुर्भाग्य से वह संभव हो नहीं पाता। बहरहाल, जो सवाल आपने पूछा उसका मैं यही जवाब दूँगा कि दोनों समाजों के लोगों को अगर बताया न जाए तो आप यूरोप, अमेरिका की कहानियां सुनते होंगे, जहां हिंदुस्तानी, पाकिस्तानी, बांग्लादेशी एक साथ रहते हैं। दूसरी राष्ट्रीयताओं के लोगों के लिए यह फर्क करना मुश्किल हो जाता है कि इसमें कौन हिंदुस्तानी है, कौन पाकिस्तानी है और कौन बांग्लादेशी है। मेरा अनुभव वहां बहुत अच्छा रहा था।

पाकिस्तान में कौन-कौन लोग थे, जिनसे आपकी मुलाकातें हुई और आज वे लोग बहुत याद आते हैं?

देखिए, वहां मेरी दो बहुत अच्छी कवियत्रियां दोस्त थीं। जाहिदा हिना और फहमीदा रियाज। फहमीदा तो अब इस दुनिया में नहीं हैं, लेकिन जब मैं पाकिस्तान गया था तब दोनों थीं। इन लोगों ने दोनों यात्राओं में बहुत समय हम लोगों के साथ बिताया। वहां एक बहुत अद्भुत मानवाधिकार कार्यकर्ता थीं आसमां जहांगीर। उनसे लाहौर में मुलाकात हुई। वह खुलेआम पाकिस्तानी फौज को कब्जा ग्रुप कहती थीं। पाकिस्तान का जो ह्यूमन राइट्स कमीशन ऑफ पाकिस्तान है, वह नॉन गवर्नमेंट ऑर्गनाइजेशन है। पाकिस्तान के ह्यूमन राइट्स कमीशन के संस्थापक सदस्यों में आसमां जहांगीर थीं। यह मुझे इसलिए भी याद आ रहा है, क्योंकि लाहौर में उनके कार्यक्रम में मुझे बुलाया गया था। वहां बहुत लाइव डिस्कशन हुए। जैसे किस तरह से हिंदुस्तान-पाकिस्तान के रिश्ते बेहतर किये जाएं। वह पाकिस्तान के सुप्रीम कोर्ट के बार एसोसिएशन की अध्यक्षा भी रही हैं। यूट्यूब पर उनके तमाम इंटरव्यू

बहुत सारे पाकिस्तानी नागरिक इलाज के लिए भारत आना चाहते हैं। उन सबको यह मौका मिले। भारतीय वहां जाना चाहते हैं। वहां मोहनजोदड़ो है। अगर एक बार यह खुल जाए, यात्रा सुगम हो जाए तो हजारों की तादाद में भारतीय मोहनजोदड़ो देखना चाहेंगे। लाहौर, कराची जैसे शहरों के लिए एक ख़ास तरह का आकर्षण हम सबके मन में है। अधिकांश भारतीय वहां जाना चाहेंगे। लेकिन दुर्भाग्य से वह संभव हो नहीं पाता।

पड़े हुए हैं। मेरी जब उनसे मुलाकात हुई तो मुझे आश्चर्य हुआ कि फौजी हाकिमों के खिलाफ़ उतना स्पष्ट बोलना और लोकतंत्र के पक्ष में उतनी मजबूत आवाज उठाना, बहुत बड़े साहस की मांग करता है। इसके अतिरिक्त मेरे बहुत से पुराने मित्र वहां थे। लखनऊ की हम लोगों की मित्र हुआ करती थीं जेबाल, जो पाकिस्तान चली गई थीं। उनके साथ वहां काफी समय बीता। वहां और भी लोगों से मिलना हुआ, पर अब सभी लोगों के नाम बता पाना थोड़ा मुश्किल है। वहां लगभग हर रोज शाम को किसी न किसी के घर पर हमारी दावत होती थी। रोज दिन में कहीं न कहीं एक कार्यक्रम होता था। कराची विश्वविद्यालय का जो डिपार्टमेंट ऑफ पाकिस्तान स्टडीज है, उसकी मुझे अभी तक याद है। वहां छात्रों के साथ लाइव डिस्कशन हुआ। उस डिपार्टमेंट के जो हेड थे वह इत्तिफाक से पाकिस्तान के पीडब्लूए से जुड़े रहे थे। उनकी लेफ्ट की तरफ़ लीनिंग थी। वहां बैठकर यह समझने का मौका मिला कि पाकिस्तान की आइडियोलॉजी क्या है? अगर इस्लाम के नाम पर पाकिस्तान बना था तो 1971 में कैसे यह दो टुकड़ों में बंट गया। आज भी पंजाबी, बलूच और पश्तून बोलने वाले सिंधी क्यों एक-दूसरे से अलग धरातल पर खड़े दिखते हैं। यह सारी बातें मुझे डिपार्टमेंट ऑफ पाकिस्तान स्टडीज के छात्रों और अध्यापकों से बात करके समझ में आईं। मेरा तो बहुत अद्भुत अनुभव रहा है। पाकिस्तान की हर यात्रा मुझे बहुत रिच करती रही है।

सबीन महमूद के बारे में आपकी क्या यादें हैं?

सबीन महमूद की वहां हत्या हुई थी। वहां का मशहूर कैफे 'टी टू एफ', जिसे आप कैफेटेरिया कम बुकशॉप कह सकते हैं। मुझे वहां जाने का मौका मिला था। हालांकि उस समय तक उनकी हत्या हो चुकी थी। लेकिन वहां देखकर बड़ा आनंद आया। वहां किताबों के बीच में कॉफी शॉप जैसी चीज़ भी थी। लोगों से बात करके पता चला कि वह इदारा कितना वाइब्रेंट है। महीने में एक आध बार लोग वहां इकठ्ठे होते थे और किसी न किसी ऐसे विषय पर बात करते थे जो पाकिस्तानी फौजी हाकिमों को पसंद न आए। जैसे हिंदुस्तान-पाकिस्तान के जो रिश्ते हैं उस पर उनका दृष्टिकोण दूसरा था। बलूचिस्तान को लेकर भी उनकी फौज से अलग राय थी। वहां पता चला कि बलूचिस्तान वाले आयोजन के बाद ही उनकी हत्या हुई थी।

आपने लिखा है कि जब पाकिस्तान की बात आती है तो हमारे सामने एक ही इमेज आती है। जबकि पाकिस्तान में भी कई तरह के लोग हैं और एक उसमें वह भी हैं जो हिंदुस्तान से दोस्ती की बात करते हैं। हालांकि वह बहुत सीमित संख्या में हैं। जैसे कई बार फौज की राय के विपरीत किसी राजनीतिक दल की तरफ़ से बात की जाती है, लेकिन उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। आपने लिखा है कि मिलिट्री के दबाव की वजह से या कभी अवाम के दबाव की वजह से कश्मीर को लेकर आक्रामकता का भाव दिखाना पड़ता है। क्या हैं इसके पीछे के तथ्य?

आप सही कह रहे हैं। मैंने महसूस किया कि कश्मीर को लेकर पंजाबियों को छोड़कर सिंधियों में बहुत कम दिलचस्पी थी। दूसरी यात्रा में हम लोग तो बेसिकली कराची में रहे। सिंध में ही रहे। वहां बहुत कम लोग कश्मीर को लेकर अग्रेसिव होकर बात कर रहे थे। लेकिन यह भी सही है कि वहां फौज ही असली मुसीबत की जड़ है। उसने डेमोक्रेसी खत्म कर दी है। पिछले 75-80 सालों का पाकिस्तान का जो इतिहास है उसमें आधा फौजी हुकूमतों के बूटों तले बीता है। जब फौज डाइरेक्ट हुकूमत में नहीं थी तो इनडाइरेक्टली हाकिम बनी हुई थी। आज वहां जो स्थिति है, जिसके लिए कहा जाता है कि यह हाइब्रिड डेमोक्रेसी है। पाकिस्तान में कहने के लिए तो एक चुना हुआ प्रधानमंत्री है। उसकी कैबिनेट है। सीनेट है। नेशनल असेंबली है। लेकिन शासन आर्मी हेडक्वार्टर के जनरल के अनुसार चलता है। पाकिस्तान की विदेश

नीति क्या हो, अर्थनीति क्या हो, भारत-अमेरिका-चीन आदि देशों से रिश्ते कैसे हों-यह सब जनरल साहब तय करते हैं। एक बड़ी मजेदार बात यह है, जो शायद दुनिया में पहली बार घट रही है। पाकिस्तान अकेला मुल्क होगा, जहां बिना सत्ता की बागडोर सँभाले जनरल ने अपने को फील्ड मार्शल घोषित करा लिया है। अभी कुछ दिनों पहले पाकिस्तान के प्रधानमंत्री शहबाज शरीफ चीन गए हुए थे। प्रधानमंत्री के बगल में ही फील्ड मार्शल साहब खड़े दिखाई दे रहे थे। यही दृश्य उनकी अमेरिकी यात्रा में भी देखने को मिला। फील्ड मार्शल साहब खाने की मेज से लेकर कूटनीतिक स्तर की बातचीत वाली मेज तक उपस्थित रहते हैं। ऐसी चीज़ें भारत से जाने वाले को कुछ अटपटी सी लगती हैं। क्योंकि हमने भारत में एक ख़ास तरह की डेमोक्रेसी देखी है। उसमें हर संस्था का अपना रोल है। फौज का भी एक रोल है। फौज कभी अपने रोल का उल्लंघन नहीं करती, जिससे कुछ और समझ में आने लगे। इसे अंग्रेजी में कहते हैं 'दे आर कॉलिंग द शॉट्स'। यानी अंतिम फैसला जनरल साहब ही करते हैं। लेकिन दुर्भाग्य से पाकिस्तान में यह सब हो रहा है। इसका नतीजा हिंदुस्तान-पाकिस्तान के रिश्तों पर भी पड़ता है। पाकिस्तानी फौज के हित में है कि भारत से रिश्ते खराब रहें। फौज के अस्तित्व की शर्त ही यही है। इससे फ़ौज का बजट बढ़ेगा, हैसियत बढ़ेगी और सारे फैसले उससे पूछकर होंगे। यह बड़ा कारण है।

आपकी भारत-पाकिस्तान सीमा पर भी नियुक्ति रही है। लंबे समय तक आपने पाकिस्तान के अखबारों का अध्ययन किया है। लोकतांत्रिक मूल्यों को लेकर दोनों देशों के अखबारों में क्या अंतर है?

मैं इत्तिफाक से एक ऐसी सीट पर था जहां मुझे रोज 10-12 पाकिस्तानी अखबार पढ़ने को मिलते थे। इसमें पाकिस्तान के बड़े अखबार 'डॉन', 'न्यूज' और 'जंग' भी था। उस जमाने में दो बड़ी महत्वपूर्ण पत्रिकाएं 'न्यूज लाइन' और 'हेरॉल्ड' भी निकलती थीं। अब दोनों बंद हो गई हैं। अमूमन ये अखबार दूसरे दिन मेरे पास आ जाते थे। इन अखबारों में छपे कंटेंट की रोज एनालिसिस होती थी। मैं कई बार इन अखबारों का कंटेंट देखकर दंग रह जाता था। ये अखबार विपरीत परिस्थितियों के बावजूद कई बार बहुत रेडिकल और

डिपार्टमेंट ऑफ पाकिस्तान स्टडीज में बैठकर यह समझने का मौका मिला कि पाकिस्तान की आइडियोलॉजी क्या है? अगर इस्लाम के नाम पर पाकिस्तान बना था तो 1971 में कैसे यह दो टुकड़ों में बंट गया। आज भी पंजाबी, बलूच और पश्तून बोलने वाले सिंधी क्यों एक-दूसरे से अलग धरातल पर खड़े दिखते हैं। यह सारी बातें मुझे डिपार्टमेंट ऑफ पाकिस्तान स्टडीज के छात्रों और अध्यापकों से बात करके समझ में आई। मेरा तो बहुत अद्भुत अनुभव रहा है। पाकिस्तान की हर यात्रा मुझे बहुत रिच करती रही है।

डेमोक्रेटिक पोजीशन लेते थे। जबकि वहां फौज के सामने सारी संस्थाएं बेबस हैं। ख़ास तौर पर 'डॉन' अखबार मेरे लिए नशे की तरह था। मैं पूरा चाट जाता था, जबकि यह काफी मोटा अखबार होता था। अब तो नेट पर पढ़ता रहता हूँ। चूंकि उर्दू के साथ एक अच्छी चीज़ है 'विट' यानी व्यंग्य। उर्दू बोलने और लिखने वालों में बहुत होता है। यह हमारे यहाँ से ज़्यादा वहां उन्नत है। वहां के अखबार बहुत सर्टेन तरीके से व्यंग्य भी करते थे और कई बार ऐसी पोजीशन ले लेते थे कि आश्चर्य होता था कि ये कैसे अभी तक सर्वाइव कर रहे हैं। भारत में बैठकर इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती हालांकि यह बात 1998-99 की है। तब से हालात और खराब हो गए हैं। इस समय जो सरकार आई है वह फॉर 47 वाली सरकार है। वहां फॉर 47 का रिवाज चलता है। उसका मतलब है कि चुनाव में जीता कोई और था और चुनाव आयोग ने विजेता किसी और को घोषित कर दिया। इस तरह से सरकार बन गई। फिर उन्होंने कांस्टीट्यूशन में एमेंडमेंट करके सुप्रीम कोर्ट, हाई कोर्ट का कंट्रोल पूरी तरह से अपने हाथ में ले लिया। सरकार के कंट्रोल का मतलब फौज का कंट्रोल हो गया है। अब हालात थोड़ा ज़्यादा मुश्किल हो गए हैं। पाकिस्तान के बहुत सारे पत्रकार देश छोड़कर बाहर भाग गए हैं। अगर आप तुलना करें तो मुझे 90 के दशक वाले पाकिस्तानी अखबार कंटेंट और एनालिसिस के लिहाज से भी भारतीय अखबारों से ज़्यादा बेहतर लगते थे। अब हालात दोनों तरफ़ एक ही जैसे हैं। आज हमारे अखबार भी कितने आजाद हैं। लेकिन अगर कंटेंट एनालिसिस करिए तो अखबारों में एक ख़ास तरह की विचारधारा का भय है। आतंक है। ऐसा नहीं है कि सब उस विचारधारा में विश्वास करने लगे हैं। इस हालात के लिए अगर लालकृष्ण आडवाणी जी को कोट किया जाए तो बात स्पष्ट हो जाएगी। आडवाणी जी ने इमरजेंसी खत्म होने के बाद पत्रकारों से कहा था कि भाई आपको झुकने के लिए कहा, तो आप रेंगने लगे। मुझे ऐसा लगता है कि आज भी यही हो रहा है। कितने लोगों के घरों पर छापे पड़ रहे हैं। कितने लोगों को सेंसर बोर्ड या किसी और तरह की प्रताड़ना सहनी पड़ रही है। लोगों ने अपने आप ही अपनी आज़ादी सरेंडर कर दी है। मीडिया में एक ख़ास तरह की जो न्यूट्रैलिटी (संतुलन) होनी चाहिए थी वह बहुत कम हो गई है। कमोबेश भारत और पाकिस्तान दोनों मुल्कों में एक ही जैसी स्थिति हो गई है।

आपने एक जगह लिखा है कि हिंदुस्तान में दो तरह की चीज़ें दिखाई पड़ती हैं। ख़ास तौर से मुसलमानों के संदर्भ में। एक तरफ़ प्रो. फैजान मुस्तफा जैसे बुद्धिजीवी हैं तो दूसरी तरफ़ राजनेता असदुद्दीन ओवैसी के स्टेटमेंट होते हैं। इनमें एक ख़ास बात निकल कर आती है कि हिंदुस्तान के मुसलमान बाइच्वाइस पाकिस्तान नहीं गए। आम तौर से इस विचार का दूसरी तरफ़ से रिएक्शन भी आता है। आप इस बारे में दूसरी राय रखते हैं, क्या इसे स्पष्ट करेंगे?

यह थोड़ा सेंसटिव मामला है। यह विचार हम लगातार सुनते हैं। फैजान मुस्तफा के मैंने कई भाषण सुने। वैसे प्रोफेसर फैजान मुस्तफा का नाम लेने की ज़रूरत नहीं है। हमारे जो अधिकांश मुस्लिम बुद्धिजीवी हैं, सेकुलर पार्टियों के लोग हैं, जिनमें कम्युनिस्ट पार्टियां भी हैं, कांग्रेस भी है। उनके बीच में धारणा है कि 1947 में हिंदुस्तान के मुसलमानों के पास पाकिस्तान जाने का एक ऑप्शन था। लेकिन वह पाकिस्तान नहीं गए। भारत में रहे। इसलिए ये बाइच्वाइस भारतीय हैं। यह सुनकर बहुत अच्छा लगता है। अगर ऐसा होता, तो इससे बढ़िया और क्या बात हो सकती थी। मैंने प्रो. इश्तियाक अहमद का इंटरव्यू लिया है। उस इंटरव्यू में उनसे भी पूछा था कि अगर आप यह कहते हैं तो इसका एक अर्थ यह निकलता है कि जो पाकिस्तान में हिंदू और सिख रहते थे, उन्हें अपनी धरती से

प्यार नहीं था। उन लोगों को जैसे ही पहला मौका मिला, उन्होंने अपना सामान समेटा और भारत भाग आए। जबकि उनके पास भी पाकिस्तान में रुके रहने की च्वाइस थी। लेकिन पाकिस्तान में नहीं रुके, भारत भाग आए। मैं आपको एक दर्जन पंजाबी, उर्दू, हिंदी, अंग्रेजी की कहानियां बता सकता हूँ जिसमें लगभग एक ही जैसा दर्द है। इनमें एक बूढ़ा सिख है। वह अपनी घरवाली के साथ एक गठरी-मुठरी में थोड़ा-बहुत सामान बांधकर घर के बाहरी दरवाजे में ताला लगाता है और चाभी अपने पड़ोसी मुसलमान को यह कहकर दे देता है कि अब तू इसे रख। जैसे ही महीने दो महीने में हालात ठीक हो जाएंगे वापस लौट आऊंगा। लेकिन वह हालात कभी ठीक नहीं हुए। वह जो एक बार आया, फिर वहां जा नहीं पाया। ऐसा नहीं था कि पाकिस्तान से माइग्रेशन सिर्फ़ 1947 तक हुआ बल्कि बहुत बाद तक होता रहा। पार्टीशन के समय पाकिस्तान में 22 प्रतिशत हिंदू थे। अब एक प्रतिशत से भी कम हो गए हैं। धीरे-धीरे व्यवस्थित ढंग से पाकिस्तान से हिंदुओं का माइग्रेशन कराया गया और हिंदुओं ने किया। ऐसा कहना कि भारत में मुसलमान अपनी इच्छा से रह गए। लेकिन हिंदू वहां से चले आए। सिख चले आए, क्योंकि वह अपनी धरती से प्यार नहीं करते थे। मेरे खयाल से यह ज्यादती है। हमें एक बात याद रखनी चाहिए कि भारत में उस समय एक ऐसा नेतृत्व था, जिसने पूरी तरह कोशिश की कि मुसलमान यहाँ से न जाएं। लेकिन जब हम यह कहते हैं कि मुसलमानों ने बाइच्वाइस भारत में रहना चुना तो उस नेतृत्व को भी कमतर करते हैं। उसमें महात्मा गांधी, जवाहरलाल नेहरू, मौलाना आजाद, सरदार पटेल आदि की प्रमुख भूमिका थी। उन्होंने न सिर्फ़ आश्वासन दिये बल्कि दिल्ली के दंगों में तो गांधीजी अनशन पर बैठ गए थे। दिल्ली दंगों की एक तस्वीर में तो जवाहरलाल नेहरू उन्मादी भीड़ के सामने छड़ी लेकर खड़े दिखाई देते हैं। उन्होंने लगातार यह कोशिश की कि मुसलमानों को सुरक्षा का अहसास हो और वे यहाँ से न जाएं। इसलिए आप देखेंगे कि हिंदुस्तान से मुसलमानों को जो जबर्दस्ती निकाले जाने की घटनाएं हुईं वह मुख्य रूप से पुराने पंजाब में हुईं। गुड़गांव से लेकर अमृतसर तक पूरी सफाई हो गई। यहाँ मुसलमान नहीं रहने पाए। दंगे-फसाद हुए। मुसलमान मारे-लूटे गए। लिहाजा उन्हें भारत छोड़कर जाना पड़ा। आपने लोगों की ट्रेनों में लटककर, बसों से, पैदल, बैलगाडियों पर

मैंने महसूस किया कि कश्मीर को लेकर पंजाबियों को छोड़कर सिंधियों में बहुत कम दिलचस्पी थी। दूसरी यात्रा में हम लोग तो बेसिकली कराची में रहे। सिंध में ही रहे। वहां बहुत कम लोग कश्मीर को लेकर अग्रेसिव होकर बात कर रहे थे। लेकिन यह भी सही है कि वहां फौज ही असली मुसीबत की जड़ है। उसने डेमोक्रेसी खत्म कर दी है। पिछले 75-80 सालों का पाकिस्तान का जो इतिहास है उसमें आधा फौजी हुकूमतों के बूटों तले बीता है। जब फौज डाइरेक्ट हुकूमत में नहीं थी तो इनडाइरेक्टली हाकिम बनी हुई थी।

जाते हुए तस्वीरें देखी होंगी। इसी तरह की भीड़ की तस्वीरें पाकिस्तान से आते लोगों की देख सकते हैं। लेकिन जैसे ही यह खूनी मंजर पंजाब के बाहर दिल्ली तक पहुंचा, वहां उस तरह के हालात नहीं बनने दिये गए। उस समय तक गांधीजी नोआखाली के दंगों को शांत कराकर दिल्ली लौट आए थे। गांधीजी ने इस आग को शांत करने के लिए अनशन शुरू कर दिया। उस अनशन को गांधीजी ने तब तोड़ा जब दोनों ने दस्तख़त करके कमिटमेंट किया कि अब किसी तरह की हिंसा नहीं करेंगे। वह मुसलमानों को नहीं मारेंगे। साथ ही मुसलमानों की जो मस्जिदें उन्होंने कब्जा कर रखी हैं उन्हें भी वापस कर देंगे।

आप देखेंगे कि पंजाब के अलावा उत्तर प्रदेश, बिहार, बंगाल कहीं भी इस तरह के घटनाक्रम नहीं हुए, जिसको आप कहें कि वहां से जबर्दस्ती मुसलमानों को खदेड़ा गया हो। लोग काफिले बना-बना कर आए। बल्कि मजेदार बात है कि बहुत सारे मुसलमान नेता जो पाकिस्तान के लिए लड़े, वे सब उत्तर प्रदेश और बिहार के थे। जबकि पाकिस्तान बनने के बाद उत्तर प्रदेश और बिहार से सबसे कम लोग गए। उत्तर प्रदेश के उन्नाव जिले के मौलाना हसरत मोहानी कम्युनिस्ट पार्टी से जुड़े थे। मुस्लिम लीग के सबसे बड़े प्रवक्ता थे। लेकिन वह खुद पाकिस्तान नहीं गए। सुप्रीम कोर्ट के एक बड़े वकील थे दैनियल लतीफी। वह मुस्लिम लीग के बड़े ऑइडियोलॉग हो गए थे। वह भी नहीं गए। उनके बारे में कहा जाता है कि कायदे आजम जिन्ना के ज़्यादातर भाषण और मुस्लिम लीग के प्रस्ताव उन्होंने ही तैयार किये थे। विभाजन के बाद उत्तर प्रदेश और बिहार के जितने मुस्लिम लीगी थे, वे सब रातों-रात कांग्रेसी हो गए और आराम से रहे। कथाकार राही मासूम रजा के पिता, सज्जाद जहीर के भाई मुस्लिम लीगी से कांग्रेसी हो गए। भारत में थोड़े बहुत दंगे फसाद होते रहे। आज़ादी के बाद 1961 में जबलपुर में पहला दंगा हुआ। उसके बाद लगातार होते रहे। लेकिन ऐसा कभी नहीं हुआ कि कोई मुसलमान भारत से पाकिस्तान इसलिए चला जाए कि यहाँ वह असुरक्षित है सिवाय पंजाब को छोड़कर। मैं यह भी स्पष्ट कर दूं कि पंजाब में ऐसा क्यों हुआ, इसकी भी एक बैकग्राउण्ड थी। जून 1947 को लॉर्ड माउंट बेटन ने घोषित किया कि हिंदुस्तान और पाकिस्तान बनेगा और 15 अगस्त को ही बन जाएगा। इंडिया इंडिपेंडेंस एक्ट के हिसाब से एक साल बाद यानी 15 अगस्त 1948 को बनना चाहिए था। उन्होंने एक साल कम करके उसे 15 अगस्त 1947 कर दिया। लेकिन 3 जून 1947 के पहले ही मार्च में पहला बड़ा दंगा रावलपिंडी में हुआ। मुसलमानों ने बहुत बड़ी सिख आबादी पर हमला किया। सिखों ने मुकाबला किया और पहला हमला नाकाम कर दिया। लेकिन उसके बाद पठान लश्कर मुसलमानों के साथ आए। इस हमले में सिखों का काफी कत्लेआम हुआ। यह मार्च 1947 के बाद की बात है। वहां से करीब 20-25 हजार सिखों के परिवार भागकर आए। वे पहले पटियाला गए और फिर उन्होंने ये सारी योजनाएं बनाई। महराजा पटियाला और शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबंधक कमेटी का इसमें सहयोग था। इन्होंने पूरे पंजाब से यानी पंजाब का जो हिस्सा भारत में रह गया था उससे मलेर कोटला को छोड़कर बाकी पूरे पंजाब से मुसलमानों को खदेड़ दिया। लेकिन यह सिर्फ़ पंजाब में हुआ। पंजाब के बाहर से भी भारत के अनेक हिस्सों से बहुत मुसलमान गए होंगे। उत्तर प्रदेश, बिहार, केरल से भी गए होंगे, लेकिन कोई ऐसा मुसलमान नहीं

यह बात सही है कि तात्कालिक कारण मुस्लिम लीग बन गई। पाकिस्तान शब्द कैम्ब्रिज में पढ़ने वाले एक स्टूडेंट के दिमाग की उपज थी। शुरू-शुरू में मुसलमानों की ज़्यादातर लीडरशिप इसके खिलाफ़ थी। इसका मज़ाक उड़ाती थी। लेकिन धीरे-धीरे 1930 में इलाहाबाद में इकबाल का जो खुतबा है, वह एक बीज डालता है। 1940 तक आते-आते लाहौर में पाकिस्तान रिजोल्यूशन ही पास हो गया। जिन्ना ने 16 अगस्त 1946 को जो 'डायरेक्ट एक्शन डे' का आयोजन किया, वह एक तरह से ऊंट की पीठ में आखिरी प्रहार की तरह था। उसके बाद समझ में आ गया। इस बात को जवाहरलाल नेहरू ने एक-आध इंटरव्यू में कहा है। अब दोनों साथ नहीं रह पाएंगे।

मिलेगा, जिसको जबर्दस्ती खदेड़ा गया हो। बैलगाड़ियों और बसों में लादकर पाकिस्तान भेज दिया गया हो।

1947 के बाद जितनी आबादी मुसलमानों की थी, आज उससे कहीं ज़्यादा है। प्रतिशत में उससे ज़्यादा है। आपको रेयर ही ऐसा देखने को मिलेगा। एक साल पहले मैंने टीवी पर एक बाप-बेटे का इंटरव्यू देखा था। इस इंटरव्यू में बाप-बेटे दिल्ली से पाकिस्तान चले गए। वह कह रहे थे कि अब हिंदुस्तान में मुसलमान सुरक्षित नहीं हैं। इसके अलावा मुझे कोई और उदाहरण नहीं मिला। मैं जो यह बात कहता हूँ कि आप यह मत कहिए कि मुसलमान बाइच्वाइस भारतीय हैं। सिर्फ़ इसलिए कह रहा हूँ कि अगर आप यह कहेंगे तो आप हिंदू और सिखों के जख्मों पर नमक छिड़केंगे। मैंने सांप्रदायिक दंगों पर काम किया है। मेरी एक किताब है 'सांप्रदायिक दंगे और भारतीय पुलिस'। उस किताब में मैंने यह समझने की कोशिश की है कि 1961 के बाद भारत में जितने भी दंगे हुए उनमें भारतीय राज्य की छवि बहुत साफ-सुथरी क्यों नहीं दिखाई देती। ये दंगे चाहे कांग्रेस हुकूमतों के दौरान हुए हों या तथाकथित धर्मनिरपेक्ष पार्टियों के शासन के दौरान या भारतीय जनता पार्टी के शासन के दौरान। ज़्यादातर दंगों में हमारी पुलिस या जो लॉ इंफोर्समेंट एजेंसियां थीं, जो पोलिटिकल लीडरशिप थी, उसका एक पार्टीशन (पक्षपातपूर्ण) रोल दिखाई देता है। उसमें कहीं न कहीं एंटी मुस्लिम टिंज दिखाई देता है। यह दोनों चीज़ें हैं। मुझे लगता है कि इस पर ऑब्जेक्टिवली विचार करना चाहिए और सच को सच कहने का साहस रखना चाहिए।

जब विभाजन की बात आती है तो यह मान लिया जाता है कि विभाजन की मांग मुस्लिम लीग के नेताओं की तरफ़ से रखी गई थी। आपने लिखा कि द्विराष्ट्र शब्द का प्रयोग सबसे पहले 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में मिलता है। क्या डाक्यूमेंट आपको मिले हैं?

मुझे इस बारे में 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के डाक्यूमेंट देखने को मिले हैं। हो सकता है दूसरे भी डाक्यूमेंट हों। पहली बार दो बंगालियों और एक मराठी बुद्धिजीवी ने यह बात कही। इन दो बंगालियों में एक सज्जन 'आनंदमठ' उपन्यास के लेखक बंकिमचंद्र चट्टोपाध्याय की वंशावली में आएँगे। उन्होंने कहा, हिंदू और मुसलमान एक साथ नहीं रह सकते। मतलब उस ढंग से नहीं जैसे जिन्ना ने या इकबाल ने 1930 में कहा था। इन दोनों ने कहा कि यह दोनों अलग नेशन हैं। लेकिन जो महाराष्ट्रीय हिंदू बुद्धिजीवी थे, उनके हिसाब से भी यह दोनों साथ नहीं रह सकते थे। लाला लाजपत राय ने सबसे पहले बीसवीं शताब्दी की शुरुआत में ही एक नक्शा बना दिया था। यह लगभग वही नक्शा है जो आज पाकिस्तान का है। जिसमें नॉर्थ-वेस्ट का पूरा और ईस्ट का इलाका है हालांकि वह एक अलग देश की बात नहीं है। लेकिन वह मुस्लिम बहुल इलाके हैं। वैसे स्पष्टता उनके मन में भी नहीं थी कि यह किस तरह से गवर्न किये जाएंगे। किस तरह से यह एक देश बनेगा लेकिन सुझाव लगभग वही था। वैसे यह भी थोड़ा सरलीकरण हुआ। उसी के समानांतर मुसलमानों के बीच में इसी तरह की चीज़ें चल रही थीं। सर सैय्यद अहमद खान इसके सबसे बड़े उदाहरण हैं। सर सैय्यद को कांग्रेस में शरीक होने और कांग्रेस का अध्यक्ष बनने का ऑफर दिया गया। कहा गया था कि इससे हिंदू-मुस्लिम एकता बढ़ेगी। सर सैय्यद का मशहूर विचार है कि क्या इंसानों और सुअरों के बीच में एकता हो सकती है। उन्होंने हिंदुओं के लिए सुअर शब्द का इस्तेमाल किया है। अब जो सर सैय्यद के भक्त हैं और उनको ख़ास तरह से पेंट करना चाहते हैं, इस बात को छिपा लेते हैं। मतलब यह दोनों तरफ़ से था। बंग-भंग तो इसका सबसे बड़ा उदाहरण है। बंगाल बाद में बंट ही गया। लेकिन 1905 में जब अंग्रेजों ने बांटने की कोशिश की और तर्क दिया कि जो ईस्ट बंगाल था वह अलग सूबा हो जाए और ढाका उसकी राजधानी हो। इस पर बंगाल का पूरा हिंदू भद्र लोक इसके खिलाफ़ खड़ा हुआ। क्रांतिकारी गतिविधियां हुई। इतना जबर्दस्त आंदोलन हुआ कि अंग्रेजों को यह वापस लेना पड़ा। यह भी एक ऐतिहासिक तथ्य है, जिसे हमें याद करना चाहिए। कुल मिलाकर यह विभाजन दुखद है। अनफार्चुनेट है लेकिन इसके लिए आप किसी एक कौम को दोषी नहीं ठहरा सकते। दोनों तरफ़ इसी तरह के 'एक्स्ट्रीम प्वाइंट्स ऑफ व्यू' थे।

यह बात सही है कि तात्कालिक कारण मुस्लिम लीग बन गई। पाकिस्तान शब्द कैम्ब्रिज में पढ़ने वाले एक स्टूडेंट के दिमाग की उपज थी। शुरू-शुरू में मुसलमानों की ज़्यादातर लीडरशिप इसके खिलाफ़ थी। इसका मज़ाक उड़ाती थी लेकिन धीरे-

मेरी एक किताब है 'सांप्रदायिक दंगे और भारतीय पुलिस'। उस किताब में मैंने यह समझने की कोशिश की है कि 1961 के बाद भारत में जितने भी दंगे हुए उनमें भारतीय राज्य की छवि बहुत साफ-सुथरी क्यों नहीं दिखाई देती। ये दंगे चाहे कांग्रेस हुकूमतों के दौरान हुए हों या तथाकथित धर्मनिरपेक्ष पार्टियों के शासन के दौरान या भारतीय जनता पार्टी के शासन के दौरान। ज़्यादातर दंगों में हमारी पुलिस या जो लॉ इंफोर्समेंट एजेंसियां थीं, जो पोलिटिकल लीडरशिप थी, उसका एक पार्टीशन (पक्षपातपूर्ण) रोल दिखाई देता है।

धीरे 1930 में इलाहाबाद में इकबाल का जो खुतबा है, वह एक बीज डालता है। 1940 तक आते-आते लाहौर में पाकिस्तान रिजोल्यूशन ही पास हो गया। जिन्ना ने 16 अगस्त 1946 को जो 'डायरेक्ट एक्शन डे' का आयोजन किया, वह एक तरह से ऊंट की पीठ में आखिरी प्रहार की तरह था। उसके बाद समझ में आ गया। इस बात को जवाहरलाल नेहरू ने एक-आध इंटरव्यू में कहा है। अब दोनों साथ नहीं रह पाएंगे। 'डायरेक्ट एक्शन डे' में जितनी हिंसा हुई उससे लगता था कि शायद हम अलग हो जाएं तो थोड़ा शांति के साथ रहेंगे। हालांकि हमारी विशफुल थिंकिंग पूरी नहीं हुई। भारत में हिंदू-मुसलमान अभी भी लड़ रहे हैं और पाकिस्तान में मुसलमान-मुसलमान लड़ रहे हैं। अगर हम एक साथ रहे होते तब भी शायद थोड़ी बहुत लड़ाइयां तो होती हीं, लेकिन इससे बेहतर स्थिति होती, ऐसा मुझे लगता है।

एक सरलीकरण हिंदुस्तान को लेकर किया जाता है कि 1947 से पहले हमारे समाज में बहुत एका थी। गांव में लोग बड़े प्रेम से रहते थे। ऐसा लगता है कि विभाजन के बाद ही ये सारी समस्याएं पैदा हुई हैं?

इसमें कोई शक नहीं है कि गांव में ज़्यादातर लोग बड़े प्रेम से रहते थे या कम से कम दिख़ता था। 711 में मुहम्मद बिन कासिम ने सिंध के राजा दाहर को हराया था। एक तरह से 711 में पॉलिटिकल इस्लाम से भारत का साक्षात्कार होता है। उसके पहले केरल में मुसलमान एक व्यापारी के तौर पर आए थे। आपको जानकर आश्चर्य होगा कि मुहम्मद साहब के जीवन में ही अरब के बाहर जो इकलौती मस्जिद बनी वह केरल में थी। लेकिन मुहम्मद बिन कासिम के आने के बाद से एक विजेता इस्लाम आया, जिसने देश के अलग-अलग हिस्सों पर कब्जा करते-करते एक जमाने में तीन चौथाई भारत पर कब्जा कर लिया। हिंदू, मुसलमानों को म्लेच्छ कहता था। हिंदू शब्द का फारसी और तुर्की के शब्दकोशों में अर्थ दिया है-चोर, उचक्का, साफा, छोटे कद का। मजेदार बात यह है कि ऐसा पड़ोस बड़ा अद्भुत था। अगल-बगल रहते थे। एक-दूसरे के यहाँ का खाना नहीं खा सकते थे। एक-दूसरे के हाथ का छुआ पानी नहीं पी सकते थे। शादी-विवाह आपस में नहीं होते थे। दुनिया में ऐसा पड़ोस आपको नहीं मिलेगा। एक-दूसरे पर इतना आश्रित

आडवाणी जी ने इमरजेंसी खत्म होने के बाद पत्रकारों से कहा था कि भाई आपको झुकने के लिए कहा, तो आप रेंगने लगे। मुझे ऐसा लगता है कि आज भी यही हो रहा है। कितने लोगों के घरों पर छापे पड़ रहे हैं। कितने लोगों को सेंसर बोर्ड या किसी और तरह की प्रताड़ना सहनी पड़ रही है। लोगों ने अपने आप ही अपनी आजादी सरेंडर कर दी है। मीडिया में एक ख़ास तरह की जो न्यूट्रैलिटी (संतुलन) होनी चाहिए थी वह बहुत कम हो गई है। कमोबेश भारत और पाकिस्तान दोनों मुल्कों में एक ही जैसी स्थिति हो गई है।

भी थे और एक-दूसरे से इतनी नफरत भी करते थे। किसी हिंदू जमींदार के यहाँ कोई मुस्लिम जमींदार आता था तो वह किसी मुस्लिम हलवाई की दुकान से उसके लिए मिठाई मंगाता था। उसे खिलाता था। इसी तरह जब मुस्लिम जमींदार के घर कोई हिंदू जमींदार आता था तो वह किसी हिंदू हलवाई की दुकान से मिठाई मंगाकर खिलाता था। यह अजीब था। यह कहना कि यह सब अंग्रेजों ने कर दिया, सही नहीं है। अंग्रेज तो आर्टिकुलेट तरीके से बांटो और राज करो की नीति के साथ काम कर रहे थे। हिंदू-मुस्लिम शासकों में आप ऐसे उदाहरण पाएंगे। जैसे शिवाजी और महाराणा प्रताप की सेना में सैनिक और नायक मुसलमान थे। वहीं मुस्लिम शासकों की सेना में सैनिक और नायक राजपूत थे। यह सब चीज़ें थीं। इसीलिए मैंने कहा कि एक ख़ास तरह की 'लव एंड हेट' रिलेशनशिप चलती थी। इसे परिभाषित करना थोड़ा मुश्किल है।

यदि भाषा में देखिए तो उर्दू में 18वीं शताब्दी में एक मतरूकात का आंदोलन चला, जिसमें यह कहा गया कि जितने भाखा मतलब ब्रज, अवधी के शब्द हैं इनको उर्दू से निकालो। उर्दू में सिर्फ़ फारसी, अरबी के शब्द रहें। भारतेंदु हरिश्चंद्र के समय में देखिए तो वहां एक-दूसरे तरह का अंदोलन चलाया गया। भारतेंदु मानते थे कि गद्य तो खड़ी बोली हिंदी में लिखा जा सकता है, कविता नहीं की जा सकती। कविता ब्रज में की जाएगी। वह खड़ी बोली हिंदी में उर्दू के शब्द हटाकर संस्कृत के शब्द लाने की तरफ़ गए। इसके लिए हिंदी की डिक्शनरियां बननी शुरू हुईं। 1890 में सबसे पहले नागरी प्रचारिणी सभा काशी ने शब्दकोश बनाया। फिर बनारस में भारतीय ज्ञान मंडल ने बनाया। एक पूरी परंपरा शब्दकोशों के विकास की है। अगर इन शब्दकोशों का अध्ययन करें तो आप पाएंगे कि कैसे शब्दकोशों में संस्कृतनिष्ठ शब्द बढ़ते गए। जब नागरी प्रचारिणी सभा का शब्दकोश बना तब ब्रज का बहुत आतंक था। ऐसे में नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा बनाए गए शब्दकोश में ब्रज के बहुत शब्द हैं, लेकिन बाद में धीरे-धीरे संस्कृतनिष्ठ खड़ी बोली के शब्द आते गए। छायावाद तक आते-आते देखिए, कविता की भाषा उससे प्रभावित हुई। इस तरह की दोनों तरफ़ 'लव एंड हेट' रिलेशनशिप थी। इसके बावजूद यह कहना कि हिंदू और मुसलमान दो अलग राष्ट्र हैं। दोनों एक साथ नहीं रह सकते। यह शायद उचित नहीं था। पिछले 80 सालों में बहुत सारी चीज़ों में धीरे-धीरे परिवर्तन आए। हम दलितों के प्रति, जिन्हें एक जमाने में अछूत कहते थे। अस्पृश्य कहते थे। फिर हरिजन कहने लगे। अब दलित कहते हैं। इनके प्रति हमारा व्यवहार बदला। हिंदू-मुसलमानों के बीच अब उस तरह के लोग रेयर मिलेंगे जो खाने-पीने में शुद्धतावादी हैं। जो एक-दूसरे के यहाँ न खाएं। एक-दूसरे के साथ न उठे-बैठें लेकिन इसके साथ-साथ हिंसा भी बढ़ गई है। पंद्रह-बीस सालों का ही देख लें तो मॉब लिंचिंग कारण तलाश करके होती है। घटना की जाँच में ज़्यादातर कारण काल्पनिक पाए जाते हैं। उससे यह सिद्ध होता है कि कहीं न कहीं हमारे अंदर बहुत जबरदस्त घृणा मुसलमानों के लिए भरी हुई है। इसमें किसी एक एक्सट्रीम पर जाना सरलीकरण होगा। हमारा अनुभव बताता है कि दोनों साथ रह सकते हैं। भारत का जो संविधान है, जिसको बने धीरे-धीरे 70 साल से अधिक हो रहे हैं वह इस रास्ते पर हमें ले जा रहा है। अगर यह डेमोक्रेटिक प्रोसेस चलता रहे और यह संविधान ही न उलट दिया जाए तो मुझे लगता है कि जो डिफरेंसेस हैं वह और कम होंगे।

हाशिमपुरा को लेकर क्या वजहें थीं जिस कारण आप अपनी प्रशासनिक जिम्मेदारी का निर्वाह करते हैं, जबकि बाकी संस्थाएं अपना काम नहीं कर रही थीं। आपने व्यक्तिगत जोखिम लेते हुए उस मामले को उठाया। हाशिमपुरा का जब डिसीजन आता है तो वह सारी चीज़ें नये सिरे से सोचने की मांग करती हैं। अब हाशिमपुरा की क्या यादें बची हैं?

हाशिमपुरा सारी भारतीय संस्थाओं पर एक धब्बा है। पुलिस और प्रशासन तो छोटा हिस्सा है, लेकिन राजनीतिक नेतृत्व, न्यायपालिका, मीडिया सब पर एक धब्बा है। किसी भी सभ्य समाज में आप इसकी कल्पना ही नहीं कर सकते कि जो लॉ इम्फोर्समेंट एजेंसी हैं वही लोगों को पकड़कर लाएं और मार दें। मेरठ में हाशिमपुरा एक मुहल्ला था। 1987 में वहां दंगे हुए। दंगे रोकने के लिए वहां पीएसी तैनात की गई थी। पीएसी ने 42 मुसलमान युवाओं को अपने ट्रक में भरा और गाजियाबाद की दो जगह पर बहने वाली नहरों में मारकर फेंक दिया। इत्तिफाक से मैं गाजियाबाद का एसपी था। इसलिए मैं इसमें इन्वाल्व हो गया। जैसे ही यह घटनाक्रम हुआ, हमें उसकी जानकारी मिल गई। वहां पहुंचने के बाद मैंने जो घटना स्थल पर देखा, उसका वर्णन करना बड़ा मुश्किल है। मैंने अपनी किताब 'हाशिमपुरा 22 मई' में वर्णन करने की कोशिश की है। भयावह दृश्य था। लाशें सरकंडे की झाड़ियों में पड़ी हुई हैं। नीचे से नहर बह रही है। घना अंधेरा है। ऐसे में जो पैर आप रख रहे हैं उसमें यह डर हमेशा रहता है कि कहीं किसी शव के ऊपर न पड़ जाए। कहीं पैर किसी जिंदा व्यक्ति के ऊपर न पड़ जाए और कहीं वह इसी वजह से न मर जाए। मुझे हमेशा लगता है कि कई बार शब्द आपका साथ छोड़ देते हैं। बहरहाल, मैं घटना स्थल पर पहुंचने वालों में पहला था। चूंकि मेरी दोहरी जिंदगी थी। एक पुलिस अधिकारी की हैसियत से एक ख़ास तरह का संकल्प मेरे अंदर पैदा हुआ कि जिन लोगों ने यह किया है उनको सजा मिलनी चाहिए और मैं उनको सजा दिलाने की पूरी कोशिश करूँगा। एक लेखक की हैसियत से मैंने तय किया कि मैं इसको लिखूंगा। लेकिन दोनों कामों में बहुत समय लगा। लेखन में तो इसलिए समय लगा कि मुझे सामग्री इकट्ठी करनी थी। शुरुआत में यह नहीं लगता था, लेकिन बाद में लिखना बड़ा मुश्किल हो गया। घटना से जुड़े लोगों को तलाशना और डाक्यूमेंट इकट्ठे करना। फिर वह यथार्थ इतना भयावह था कि लिख़ते-लिख़ते विचलित हो जाता था। लिखना टल जाता था। हाशिमपुरा केस के अभियुक्तों को सजा भी 25-30 साल बाद मिल पाई। वह पूरी भारतीय व्यवस्था की एक सैड कमेंट्री है। उसमें न्यायपालिका, मीडिया, पोलिटिकल लीडरशिप, पुलिस, मैजिस्ट्रेसी है। यह सब के सब उसमें कहीं न कहीं दोषी हैं। मैंने इसी अनुभव को अपनी किताब में लिखने की कोशिश की है।

कहीं न कहीं हमारे अंदर बहुत जबरदस्त घृणा मुसलमानों के लिए भरी हुई है। इसमें किसी एक एक्सट्रीम पर जाना सरलीकरण होगा। हमारा अनुभव बताता है कि दोनों साथ रह सकते हैं। भारत का जो संविधान है, जिसको बने धीरे-धीरे 70 साल से अधिक हो रहे हैं वह इस रास्ते पर हमें ले जा रहा है। अगर यह डेमोक्रेटिक प्रोसेस चलता रहे और यह संविधान ही न उलट दिया जाए तो मुझे लगता है कि जो डिफरेंसेस हैं वह और कम होंगे।

क्या पीएसी के सुरेन्द्र पाल सिंह की याद आती है?

सुरेन्द्र पाल सिंह मुझे सिंबल की तरह लगता है। जैसे एक औसत हिंदू भारत में क्या सोचता है, ठीक वैसे। मेरी उससे कई मुलाकातें हुईं। हालांकि जब मेरी किताब प्रकाशित होने जा रही थी उसके पहले ही वह मर गया। मुझे इस बात को लेकर बड़ी उत्सुकता थी कि आप किसी को जानते नहीं, उससे कोई दुश्मनी नहीं, कभी पहले उससे मिले नहीं। जब आप मारने जा रहे हैं। पहली बार आप उसे देख रहे हैं और पहली बार वह आपको देख रहा है। आप कैसे मार सकते हैं? कोई कोल्ड ब्लडेड मर्डर कैसे कर सकता है? सुरेन्द्र पाल सिंह उस टुकड़ी का कमांडर था, जिसने यह हरकत की थी। लेकिन सुरेन्द्र पाल सिंह से बात करके मुझे समझ में आया कि कितनी जबरदस्त घृणा हमारे मन में मुसलमानों को लेकर भरी हुई है। कैसे प्रिजुडिसेस हैं। दंगा मुसलमान शुरू करता है। दंगे में ज़्यादा हिंदू मारे जाते हैं। अगर पुलिस, पीएसी, फौज न आ जाए तो हिंदुओं का रहना मुश्किल हो जाएगा। यही सुरेन्द्र पाल सिंह भी सोचता था। मैंने उससे कहा, तुम तो पुलिस में थे। तुम किसी भी थाने में जाकर, कंट्रोल रूम जाकर रिकॉर्ड देख सकते थे। ख़ुद ही तुम्हें अंदाजा लग जाता कि सच्चाई यह नहीं है। दंगों में शुरू से ही ज़्यादा मुसलमान मारे गए। इसके बाद भी तुम 42 लोगों को पकड़ कर ले गए और मार दिया। वह इस पर विश्वास नहीं करता था। नहीं, ऐसा कैसे हो सकता है कि दंगों में ज़्यादा मुसलमान मारे गए। वह एक आम हिंदू जैसा विश्वास करता था। हिंदू तो स्वभाव से अहिंसक है। चींटियों को भी आटा खिलाता है। मुसलमान स्वभाव से हिंसक है। गंदा है। पाकिस्तानी है। यह जो हमारे अंदर बैठा हुआ है, इसकी झलक उसमें दिखाई दे रही थी।

आम समाज में हम देख़ते हैं तो मुसलमानों के प्रति घृणा का भाव दिखाई पड़ता है, लेकिन जब संस्थाओं-पुलिस, न्यायपालिका आदि में इस तरह की प्रवृत्ति आ जाए तो बाकी समाज को कैसे हौसला मिले कि वह किसके साथ जाए, जहां वह सुरक्षित हो सकता है?

आप सही कह रहे हैं। इंडिविजुअल जिंदगी में हम लोग एक ख़ास तरह से सोच सकते हैं, लेकिन संस्थाओं में तो उस तरह की सोच नहीं होनी चाहिए। पर, संस्थाओं में लोग तो वहीं से आते हैं। आप पुलिस का उदाहरण ले लें। पुलिस में कौन आता है? 18 से 21 साल की उम्र का लड़का सिपाही बनता है। उस लड़के के कंधे पर घृणा और पूर्वाग्रह की गठरी लदी हुई है। वही गठरी लेकर वह संस्था में आ जाता है। वह यहाँ भी लदी रहती है। मैंने पहले भी निवेदन किया कि हमें बहुत अद्भुत संविधान मिला है। उस संविधान को नष्ट न किया जाए। थोड़ा-बहुत उसका पालन किया जाए तो यह गठरी धीरे-धीरे उतर सकती है। भारतीय समाज में हो रहे बहुत सारे विचलन के बावजूद मैं आशावादी हूँ। मैंने पहले भी निवेदन किया है कि मुसलमान आज़ादी के समय से आज ज़्यादा अनुपात में हैं। मुसलमानों के सामने अब तो ख़ुद भी आज़ादी है। वह चाहें तो पाकिस्तान चले जाएं। सीधे पाकिस्तान न जाकर दुबई के रास्ते जा सकते हैं। लेकिन कितने मुसलमान पाकिस्तान जाते हैं। अभी मैं अपने एक पत्रकार दोस्त से बात कर रहा था। उन्होंने कहा, इतने सालों में कितने हजार मुसलमान अमेरिका और यूरोप चले गए। मैंने कहा, जितने हजार मुसलमान गए उससे ज़्यादा संख्या में तो हिंदू अमेरिका और यूरोप गए। अमेरिका और यूरोप जाना अलग है। वहां एक बेहतर भविष्य का विकल्प मिल रहा है, इसलिए वह जा रहे हैं। इसके लिए वह अपनी जान ख़तरे में डालकर, कहीं नाव में बैठकर, कहीं पहाड़ों पर चढ़कर चले जाते हैं। इनमें जितने मुसलमान हैं उससे ज़्यादा हिंदू हैं। लेकिन कितने मुसलमान भारत से पाकिस्तान गए। जबकि आज़ादी के समय मुसलमानों को बताया गया था कि पाकिस्तान मुसलमानों

के लिए बन रहा है बल्कि वहां तो एक मुहावरा अभी भी इस्तेमाल होता है-इस्लाम का किला है पाकिस्तान।

उत्तर प्रदेश पुलिस और पीएसी की मिलीभगत तो दंगों में देखी गई थी, लेकिन हाशिमपुरा एक ऐसी घटना है जिसमें सेना की यूनिट की दंगों में संलिप्तता आपके लेखन में उभर कर सामने आती है। इसके पहले कभी सेना की किसी यूनिट की दंगों में इन्वाल्वमेंट रही है?

सेना का पूरा इन्वाल्वमेंट आप नहीं कह सकते, लेकिन सेना का एक अफ़सर इसमें शामिल था। यह दुर्भाग्यपूर्ण रोल था। इस अफ़सर का भाई मारा गया था। मैं जब इस पर काम कर रहा था तो मुझे काफी भाग-दौड़ करनी पड़ी। काफी समय लगाना पड़ा। मैं वहां तक पहुंच गया था, जहां पर वह था बल्कि सीआईडी ने जो इन्वेस्टिगेशन किया था और अदालत में जो डाक्यूमेंट दाखिल किया था उसमें भी उस अफ़सर का वे लोग लगातार जिक्र करते हैं। यह वहां पर क्यों था। सीआईडी अफ़सर बार-बार पूछते हैं कि उस घटनास्थल पर यह कैसे पहुंचा। इसकी तो कोई ज़रूरत नहीं थी। यह दुर्भाग्यपूर्ण है। इस पर तो आर्मी हेडक्वार्टर को ही सख्त कारवाई करनी चाहिए थी। लेकिन उन्होंने नहीं किया। इस घटना में इन्वाल्व मेजर साहब को अदालत द्वारा सम्मन भेजे जाते रहे, वह आए ही नहीं। क्या हमारी अदालतें इतनी असहाय हैं कि उनको जबर्दस्ती नहीं बुला सकतीं। बहरहाल, नहीं आए तो नहीं आए। आप इसके लिए पूरे इंस्टिट्यूशन को तो नहीं कह सकते, लेकिन कुछ लोगों का तो इसमें इन्वाल्वमेंट था।

यहाँ पर एक रोल मीडिया से संबंधित है। सारा सिस्टम लगा है घटनाक्रम को दबाने में। राज्य के मुख्यमंत्री से लेकर पूरी सरकार तक। आपने घटनाक्रम को सामने लाने के लिए पत्रकारिता का इस विश्वास के साथ इस्तेमाल करने का प्रयास किया, लेकिन वहां भी सफलता नहीं मिली। इसे कैसे देखते हैं?

यह ज़्यादा दुर्भाग्यपूर्ण है। उस समय मेरठ से दो बड़े अखबार 'अमर उजाला' और 'दैनिक जागरण' छपते थे। 'दैनिक जागरण' शायद बाद में आया। 'अमर उजाला' पहले से वहां था। दोनों में प्रतिद्वंदिता भी थी कि कौन नंबर एक हो जाएगा। जब मैं इस विषय पर काम कर रहा था तो मैंने मित्रों की मदद से दोनों अखबारों की मई 1987 की फाइलें देखीं। पता चला कि दोनों अखबारों ने

दंगा मुसलमान शुरू करता है। दंगे में ज़्यादा हिंदू मारे जाते हैं। अगर पुलिस, पीएसी, फौज न आ जाए तो हिंदुओं का रहना मुश्किल हो जाएगा। यही सुरेन्द्र पाल सिंह भी सोचता था। मैंने उससे कहा, तुम तो पुलिस में थे। तुम किसी भी थाने में जाकर, कंट्रोल रूम जाकर रिकॉर्ड देख सकते थे। खुद ही तुम्हें अंदाजा लग जाता कि सच्चाई यह नहीं है। दंगों में शुरू से ही ज़्यादा मुसलमान मारे गए। इसके बाद भी तुम 42 लोगों को पकड़ कर ले गए और मार दिया। वह इस पर विश्वास नहीं करता था। नहीं, ऐसा कैसे हो सकता है कि दंगों में ज़्यादा मुसलमान मारे गए। वह एक आम हिंदू जैसा विश्वास करता था। हिंदू तो स्वभाव से अहिंसक है। चींटियों को भी आटा खिलाता है। मुसलमान स्वभाव से हिंसक है। गंदा है। पाकिस्तानी है। यह जो हमारे अंदर बैठा हुआ है, इसकी झलक उसमें दिखाई दे रही थी।

घटना को ब्लैकआउट करने का हास्यास्पद और दयनीय प्रयास किया था। जैसे नहर में लाशें मिलीं तो इन दोनों अखबारों ने लिखा जंगल में कुछ अज्ञात लाशें मिलीं, जबकि इन अखबारों के संवाददाता वहां मौजूद थे। इनका ऑफिस वहां था। इनके लिए यह ढूंढना कोई मुश्किल काम नहीं था। सबको तलाश सकते थे। किन घरों के लोगों को लेकर पीएसी गई थी। कहाँ लेकर गई थी। इन दोनों अखबारों ने यह नहीं किया। इन दोनों अखबारों ने लगातार इसे फर्जी बताने की कोशिश की, जबकि घटना में बचे जुल्फिकार नासिर को राजनेता चंद्रशेखर और शहाबुद्दीन ने दिल्ली में मीडिया के सामने पेश किया था। इसके बाद मेरठ के कलेक्टर और एसपी ने एक प्रेस कान्फ्रेंस की। कलेक्टर और एसपी ने कहना शुरू कर दिया कि यह झूठ है। यह आदमी तो हाशिमपुरा का है ही नहीं। वहां की मीडिया भी इसी को उछालती रही। मैंने तय किया कि इस घटना को मीडिया और अखबारों में आना चाहिए। मीडिया में अगर नहीं आएगी तो लोग घटना को दबा देंगे। हमने 'नवभारत टाइम्स' अखबार में मित्र अरुण वर्द्धन के जरिए इस घटना को प्रकाशित कराने की कोशिश की। लेकिन 'नवभारत टाइम्स' ने छापा ही नहीं। उस समय पत्र के संपादक राजेन्द्र माथुर जैसे बड़े पत्रकार थे। उन्हें पत्रकारिता का पितामह कहा जाता है। इस घटना को 'चौथी दुनिया' जैसे साप्ताहिक अखबार ने पहली बार छापा। वीरेन्द्र सेंगर इसके संवाददाता थे। फिर एएनआई ने न्यूज बनाई। 'चौथी दुनिया' से देश के बड़े अखबारों टेलीग्राफ, इंडियन एक्सप्रेस आदि सभी ने उठाया। वैसे इन अखबारों को हाशिमपुरा की घटना को उठाना मजबूरी हो गई थी। अंतरराष्ट्रीय मीडिया ने भी 'चौथी दुनिया' से ही इस खबर को उठाया।

एक जिज्ञासा है कि यह सब सिस्टम को पता चल गया था कि हाशिमपुरा की घटना को दुनिया के सामने लाने का प्रयास किसने किया है। उसकी भरपाई भी आपको करनी पड़ी।

देखिए, जब आप ऐसा कुछ करते हैं तो थोड़े बहुत नुकसान के लिए आपको तैयार रहना चाहिए। मेरा यह मानना है कि मैं जिस समय था, उस समय सिस्टम इतना प्रतिशोधात्मक नहीं था। सिस्टम इतना रिवेंजफुल नहीं था। इसलिए मैं बच गया। उस जमाने के मुख्यमंत्री वीर बहादुर सिंह को पता चल गया कि मेरी वजह से यह घटना सामने आई है। उन्होंने मेरा ट्रांसफर कर दिया। तीन-चार महीने पोस्टिंग नहीं दी। इससे ज़्यादा नुकसान नहीं किया। आज शायद बहुत ज़्यादा नुकसान होता।

आपने कई उपन्यास लिखे, लेकिन एक जासूसी उपन्यास लिखा है-'रामगढ़ में हत्या'। यथार्थ की बात करते-करते जासूसी उपन्यास लिखने की वजह क्या है?

हिंदी के कुछ ख़ास तरह के पाखंड हैं। जैसे हिंदी में बच्चों के लिए लिखना छोटी बात समझी जाती है। जासूसी उपन्यास लिखना कोई घटिया काम है। साइंस फिक्शन को बहुत गंभीरता से नहीं लिया जाता, जबकि दूसरी भाषाओं में ऐसा नहीं है। जैसे श्रीलाल शुक्ल ने एक उपन्यास लिखा-'आदमी का जहर', जो जासूसी उपन्यास था। उसके बाद वह कभी उधर नहीं गए। मैंने एक बार पूछा उनसे कि श्रीलाल जी आपने एक ही उपन्यास लिख कर क्यों छोड़ दिया। इस पर वह हँसने लगे। कहने लगे कि सब मुझे बड़ा घटिया समझते हैं। समझते हैं कि मैं जासूसी लेखक हूँ। इस तरह की मानसिकता है। बहरहाल, यह तो मैंने भूमिका के तौर पर कह दिया। मेरा इस उपन्यास को लिखने के पीछे कोई मुख्य वजह नहीं थी, सिवाय इसके कि मेरे पास कोई बड़ा प्लॉट नहीं

था। कोई ऐसा महत्वपूर्ण काम मेरे हाथ में नहीं था और यह मुझे चुनौती भी लगा कि जिस काम को इतना घटिया समझा जाता है, जरा उसे करके देखा जाए। हो सकता है कि कुछ ठीक-ठाक बन जाए। उसी चक्कर में 'रामगढ़ में हत्या' उपन्यास लिखा।

आपने जो उपन्यास लिखे हैं उसमें 'घर' उपन्यास आपको सबसे ज़्यादा प्रिय है, इसकी क्या वजह है?

'घर' मेरा पहला उपन्यास था। जैसा कि होता है कि पहली संतान मनुष्य को प्रिय होती है, एक कहावत है। दूसरा 'घर', जिसे आप कह सकते हैं कि बहुत डूब कर मैंने लिखा था। वह इत्तिफाक से एक परिवार था, जो आगरे का परिवार था। वह हम लोगों के संपर्क में आ गया था। मेरे पिता वहां पोस्टेड थे। इस तरह वह हमारे परिवार के संपर्क में आ गया था। उसे बड़े करीब से देखने का मौका मिला था। जो तकलीफ उस परिवार की मैंने देखी, जिस यातना से परिवार गुजर रहा था, मुझे पता नहीं क्यों वह हंट करता रहा। फिर जैसे ही मुझे पहला मौका मिला, मैंने उसे लिख डाला।

क्या यही कारण तो नहीं कि आपके मन में भी अपने घर को लेकर एक नॉस्टेलजिक भाव है और उस घर की तलाश तो नहीं कहेंगे लेकिन अपनी जड़ों की तरफ़ लौटना कह सकते हैं, क्योंकि आम तौर पर जो लोग गांव से बाहर आते हैं वह गांव लौटते नहीं हैं और आप गांव लौटे। वहां पर आपने एक बड़ा पुस्तकालय स्थापित किया है, इसे आप कैसे देख़ते हैं?

घर को लेकर नॉस्टेल्जिया तो था, लेकिन मुझे घर को लेकर उस तरह के अनुभव नहीं हुए जो घर के मुंशीजी को हुए। मेरा एक साधारण सा, सामान्य सा मध्य वर्ग का जीवन चलता रहा। और घर भी मेरे लिए उस तरह से कभी चुनौती, कठिनाई या मुसीबत नहीं बना। इसलिए यह कहना शायद उचित नहीं है। जहां तक जड़ों की तरफ़ लौटने की बात है उसमें कुछ सच्चाई है। मेरा यह विश्वास है कि लेखक को एक्टिविस्ट भी होना चाहिए। हम लिख़ते रहते हैं। किसके लिए लिख़ते हैं। कोई पढ़ता भी है कि नहीं पढ़ता। हम लगातार आपस में बैठ करके विलाप करते हैं। दुख भी प्रगट करते हैं कि कोई हमें पढ़ता नहीं है। हमेशा यह चर्चा तो मैं 40-50 साल से सुन रहा हूँ कि किताबें बिकती नहीं हैं। किताबें फालतू हो गई हैं। मेरा यह मानना है कि जितना प्रयास एक लेखक को करना चाहिए लिखने के लिए उतना ही प्रयास अपने पाठक तैयार करने के लिए भी करना चाहिए। एक तो उसकी चुनौती है कि वह ऐसा लिखे, जिसे लोग पढ़ना चाहें। हममें से ज़्यादातर का लिखा हुआ अमूमन बहुत उत्सुकता या आग्रह नहीं पैदा करता किसी पाठक के मन में कि वह उसे पूरा पढ़ डाले। यह हमारे लिए एक चुनौती है। मुझे पता नहीं इस चुनौती में मैं कहाँ तक खरा उतरा, लेकिन मैं इसे एक चुनौती के तौर पर लेकर चला कि मैं जो लिख रहा हूँ, वह लोग पढ़ लें। दूसरी चीज़ यह है कि हम कुछ ऐसा माहौल बनाएं जिससे कि पढ़ने लिखने की संस्कृति विकसित हो। इसी चक्कर में 30 साल पहले मैंने अपने गांव में एक छोटे से पुस्तकालय की शुरुआत की। वह बढ़ते-बढ़ते बहुत बड़ा हो गया। अब तो करीब 40 हजार किताबें हो गईं। लघु पत्रिकाओं का सबसे बड़ा संग्रह देश का वहां पर है। बहुत सारे रिसर्च स्कॉलर आने लगे, लघु पत्रिकाओं पर जो काम करते हैं। पुस्तकालय के चक्कर में अगल-बगल के दस-बीस-पच्चीस गांवों के बच्चे आते हैं, जो रोज किताबें इशू कराते हैं। पढ़ते हैं। वापस करते हैं। बहुत से वहीं बैठ कर पढ़ते हैं। मुझे लगता है कि उसकी वजह से एक पढ़ने की संस्कृति विकसित हुई। कुछ तो नाम अब चर्चित भी हो गए हैं, जो उस पुस्तकालय में पढ़ते हुए बड़े हुए और जिन्होंने साहित्य में या दूसरे क्षेत्रों में लिखना-पढ़ना जारी रखा।

मैंने तय किया कि हाशिमपुरा की घटना को मीडिया और अखबारों में आना चाहिए। मीडिया में अगर नहीं आएगी तो लोग घटना को दबा देंगे। हमने 'नवभारत टाइम्स' अखबार में मित्र अरुण वर्द्धन के जरिए इस घटना को प्रकाशित कराने की कोशिश की। लेकिन 'नवभारत टाइम्स' ने छापा ही नहीं। उस समय पत्र के संपादक राजेन्द्र माथुर जैसे बड़े पत्रकार थे। उन्हें पत्रकारिता का पितामह कहा जाता है। इस घटना को 'चौथी दुनिया' जैसे साप्ताहिक अखबार ने पहली बार छापा। वीरेन्द्र सेंगर इसके संवाददाता थे। फिर एएनआई ने न्यूज बनाई। 'चौथी दुनिया' से देश के बड़े अखबारों टेलीग्राफ, इंडियन एक्सप्रेस आदि सभी ने उठाया। वैसे इन अखबारों को हाशिमपुरा की घटना को उठाना मजबूरी हो गई थी। अंतरराष्ट्रीय मीडिया ने भी 'चौथी दुनिया' से ही इस खबर को उठाया।

आपने एक साक्षात्कार में कहा है कि मैं लगातार बड़े घरों में रहा हूँ। नौकरी में रहा तब भी, बाकी के जीवन का जो हिस्सा है मैंने उसी तरह जीने के लिए एक बड़ा फार्म हाउस बनाया है। उसमें कई तरह की बातें हैं कि लोगों और दोस्तों से मिलने का एक बहाना वहां है। हम आपसे जानना चाहते हैं कि यह जो घर का भाव है, जो हमें अलग-अलग तरह से दिखाई पड़ता है और उसके विपरीत हम देख़ते हैं कि फ्लैट में रहने की बात आती है तो कैसे देख़ते हैं इन सब चीज़ों को?

मेरे पिता नौकरी करते थे और जहां तैनात होते थे वहां एक बड़ी सी कोठी उनको मिलती थी। इत्तिफाक से उस समय सरकारी मकान नहीं बने थे तो एलॉटमेंट वाली कोठियां हुआ करती थीं। फिर मैं भी इत्तिफाक से ऐसी नौकरी में आ गया जहां बड़े मकानों में रहने का मौका मिला। पेड़-पौधों, पक्षियों या पशुओं से एक ख़ास तरह का लगाव होता है, वह इन्हीं जगहों पर रहते हुए हुआ। मैं जब रिटायर हो रहा था तो स्पष्ट था कि अब उस तरह से किसी बड़े मकान में रहने का तो मौका नहीं मिलेगा। किसी फ्लैट में जाकर रहना होगा। ऐसे में पेड़-पौधों का क्या होगा। सिर्फ़ दो, चार, दस गमले घर में रखे जाएंगे। उनके साथ जो मेरा जुड़ाव है, वह कैसे कायम रहेगा। उसी को ध्यान में रखकर मैंने रिटायरमेंट के समय पैसा मिला तो यहाँ पर एक फार्म हाउस खरीदा। वैसे उसे फार्म हाउस कहना एक तरह से उसकी हैसियत को बढ़ा देना है, लेकिन यह कि थोड़ी सी जमीन खरीदी। उसमें एक छोटा सा कमरा भी बना लिया। शेष जमीन में पेड़-पौधे लगाने लगा। सब्जियां उगाने लगा। अब तो करीब 25-30 तरह के फलों की प्रजातियां वहां पर हैं। फूलों की प्रजातियां हैं। एक अलग तरह का आनंद आता है। मैं जाता हूँ। बैठता हूँ। एक-एक पेड़ के बारे में मुझे पता है। कब लगाया गया है। कितना बढ़ा है। कब खाद दी गई। रोग क्या लगे। इन सारी चीज़ों का एक ख़ास तरह का सुख होता है, जो मैं वहां जाकर उठाता हूँ।

जीवन में व्यंग्य की भूमिका को कैसे देख़ते हैं, क्योंकि आपने व्यंग्य उपन्यास भी लिखा है- 'तबादला'। आज हम देख़ते हैं कि व्यंग्य की

बात जरा सी भी आती है तो हमारी भावनाएं आहत हो जाती हैं। ऐसे में व्यंग्य की भूमिका को कैसे देख़ते हैं?

व्यंग्य किसी भी समाज की शक्ति हो सकता है। आपने बाद वाली बात पहले कही। उसी से हम बात शुरू करते हैं। आज हमारे समाज में वह शक्ति क्षीण हुई है। ख़ास तौर से जो तब का शासक है। अच्छा वह सिर्फ़ यह नहीं कि भाजपा की जहां सरकारें हैं, वहीं है। दूसरी पार्टियों की जहां सरकारें हैं वहां भी कोई इस बात को बर्दाश्त नहीं करता कि उनके नेता के ऊपर कोई कार्टून छप जाए। उनके ऊपर कोई ऐसी टिप्पणी कर दी जाए, जिसमें व्यंग्य हो। सब प्रशंसा चाहते हैं। सब चापलूसी चाहते हैं। यह हमारे समाज की कमज़ोरी है, जो इस समय दिखाई दे रही है। हमारे समाज में व्यंग्य की जर्बदस्त परंपरा रही है। जवाहर लाल नेहरू पहले प्रधानमंत्री थे। आर.के. लक्ष्मण बड़े कार्टूनिस्ट थे। शंकर उस जमाने में बड़े कार्टूनिस्ट थे। इस तरह के उदाहरण तमाम मिलते हैं कि कहीं किसी बड़े कार्टूनिस्ट से मुलाकात होती थी तो नेहरू भी हँस कर उसे याद दिलाते थे कि तुमने फलाने कार्टून में मेरी तुलना हाथी से कर दी। तो वह उसको इंज्वाय करते थे। अब जाहिर है कि हमारे राजनेताओं में न तो उस तरह का धैर्य है। न उतने विराट व्यक्तित्व वाले राजनेता हैं, जो जरा सा भी कुछ छप जाए जिससे उनको लगे कि उनकी आलोचना हो रही है या उनके किसी काम की खिल्ली उड़ाई जा रही है। आप देखिए, कितने स्टैंडअप कॉमेडियन पिछले कुछ वर्षों में जेल चले गए। वैसे विदूषक एक तरह से निर्दोष प्राणी है। यहाँ तक कि सामंतवाद जब था। राजे महाराजे थे। जमींदार थे। तालुकेदार थे। वह भी अपने दरबार में विदूषकों को रख़ते थे। विदूषक उन्हीं का मज़ाक उड़ाते थे। आज लोकतंत्र में भी हम नहीं बर्दाश्त करते। कोई स्टैंडअप कॉमेडियन खड़े होकर हमारे बारे में कुछ कह दे। हमसे ज़्यादा हमारे कार्यकर्ता, मतलब जो बड़े नेता हैं उनकी राजभक्ति में उनके कार्यकर्ता उनसे भी आगे हैं। यह किसी भी समाज के लिए रोग का लक्षण है। स्वस्थ समाज तो वही है जो अपने ऊपर हँस सकता है। बड़ा राजनेता और बड़ी जातियां, मुझे लगता है कि बड़ी तभी होती हैं जब अपने ऊपर हँसने का माद्दा पैदा करती हैं।

अगर सिस्टम में न होते तो 'तबादला' जैसा

व्यंग्य किसी भी समाज की शक्ति हो सकता है। आपने बाद वाली बात पहले कही। उसी से हम बात शुरू करते हैं। आज हमारे समाज में वह शक्ति क्षीण हुई है। ख़ास तौर से जो तब का शासक है। अच्छा वह सिर्फ़ यह नहीं कि भाजपा की जहां सरकारें हैं, वहीं है। दूसरी पार्टियों की जहां सरकारें हैं वहां भी कोई इस बात को बर्दाश्त नहीं करता कि उनके नेता के ऊपर कोई कार्टून छप जाए। उनके ऊपर कोई ऐसी टिप्पणी कर दी जाए, जिसमें व्यंग्य हो। सब प्रशंसा चाहते हैं। सब चापलूसी चाहते हैं। यह हमारे समाज की कमज़ोरी है, जो इस समय दिखाई दे रही है।

उपन्यास क्या लिखना संभव होता, जिस गंभीरता से आपने उसमें चीज़ों को पिरोया है, क्या वह हो पाता?

मैं हमेशा कहता हूँ कि पुलिस तंत्र एक तरह से रचना विरोधी दुनिया थी, जहां मैं आ गया। लेकिन मेरा हमेशा यह समझना था कि जो अनुभव मुझे पुलिस में रहते हुए मिले वह किसी दूसरे पेशे में नहीं मिलते, जैसे हाशिमपुरा में एक पत्रकार होता तो नहीं लिख पाता, क्योंकि अंदर से मैं नहीं देख पाता। 'शहर में कर्फ़्यू' नहीं लिख पाता अगर मैं अंदर के सिस्टम का हिस्सा नहीं होता। जो अनुभव मुझे हुए, तरह-तरह के लोग मिले। एक बड़ा माफिया मेरे संपर्क में आया, जिस पर मैंने 'किस्सा लोकतंत्र' लिखा। इस तरह 'तबादला' के बहुत सारे चरित्र मेरी आंखों के सामने से गुजरे हैं। इन सारे अनुभवों के साथ व्यवस्था का अंग होकर ही लिखा जा सकता था और मैंने उसका लाभ उठाया।

समाज में क्या व्यंग्य की स्वीकारोक्ति है?

भारतीय समाज सहित दुनिया भर के जितने उन्नत समाज हैं, सभी में व्यंग्य की स्वीकारोक्ति थी। इसीलिए मैं कह रहा हूँ कि इधर कम दिख रही है। असहिष्णुता बढ़ रही है। यह माद्दा खत्म हो रहा है। सरकारें जिस तरह से सेंसर लगाने की कोशिश करती हैं, फिर मैं कहूँगा यह केवल भाजपा की सरकारें नहीं कर रही हैं। कलकत्ता में किसी प्रोफेसर को इसलिए बंद कर दिया गया कि उसने वहां की मुख्यमंत्री के खिलाफ़ एक कार्टून बना दिया। उत्तर प्रदेश में किसी की पिटाई हो गई कि उसने किसी के ऊपर टिप्पणी कर दी। यह पूरे देश में हो रहा है। यह बुरी चीज़ है। एक तरह से रोग का लक्षण है। अगर हमें स्वस्थ समाज बनाना है तो हमें अपने ऊपर हँसना सीखना चाहिए। हमें अपने ऊपर व्यंग्य करना या दूसरा कोई व्यंग्य कर रहा है तो उसको सहने का माद्दा होना चाहिए। इसमें पिछले 10-15 सालों में ज़्यादा गिरावट आई है। मैं कवि सम्मेलनों में जाता था। देख़ता था कि कोई नेता मंच पर बैठा हुआ है। मंत्री है। मुख्यमंत्री है। छोटा नेता है। बड़ा नेता है। कवि उसके सामने उसकी खिल्ली उड़ा रहे हैं। मज़ाक कर रहे हैं। नेताओं पर व्यंग्य कर रहे हैं। सब लोग हँसते रहते थे। यह नहीं होता था कि कोई उठकर उसको पीटने लगे या जब नेताजी चले जाएं तो उनके चेले आकर उसकी पिटाई-धुनाई कर दें। ऐसा नहीं होता था। यह इधर कुछ ज़्यादा बढ़ा है। यह दुर्भाग्य की बात है। यह रोग का लक्षण है।

सांप्रदायिकता पर आपका बड़ा काम है। आपकी थीसिस इसी विषय पर है। हाशिमपुरा पर महत्वपूर्ण काम आपने किया है। एक दल की सरकार है। तो उस समय एक धर्म के वोट बैंक से जुड़े मामले की बात अधिक होती है। हिंदू सांप्रदायिकता की बात ज़्यादा की जाएगी। दूसरे दल की सरकार है तो मुस्लिम सांप्रदायिकता की बात ज़्यादा की जाएगी। यह जो खांचों में बांट कर सांप्रदायिकता की बात की जाती है, क्या इससे कभी बात बनेगी?

नहीं, यह तो बुरी चीज़ है। मुझे हिंदू-मुस्लिम रिश्ते हमेशा से बड़े दिलचस्प लगते थे। मैं पुलिस में नहीं आया था। छात्र था, तब भी इनका अध्ययन करता था। समझने की कोशिश करता था। मैं भारत के संदर्भ में कह रहा हूँ। अगर हम कहीं बाहर होते, हो सकता है कि यहूदियों और इसाइयों के रिश्तों की बात होती। यहाँ तो हिंदू-मुस्लिम रिश्ते ही थे। इत्तिफाक ही था कि मैं आईपीएस में आ गया। उससे मुझे तंत्र का हिस्सा बनने का मौका मिला। उसे करीब से देखने का मौका मिला। उससे पहले जो थ्योरीटिकल मेरी समझ थी, वह यह थी कि भारतीय राज्य अपने अल्पसंख्यकों के साथ बहुत अच्छा व्यवहार नहीं कर रहा। ज़्यादातर दंगों में, 1961 में पहला दंगा हुआ जबलपुर में। उसके बाद तो हर साल, दो साल, चार साल के बाद दंगे होते रहे। ज़्यादातर दंगों में हम राज्य का फेलियर देख़ते हैं। राज्य का

कर्तव्य है कि अपने नागरिकों की जानमाल की रक्षा करे। वह नागरिक किसी भी तबके के हों। अगर अल्पसंख्यक हैं तो जाहिर है कि थोड़ा ज़्यादा कमज़ोर होंगे, उनकी तो और भी ज़्यादा हिफाजत की कोशिश करनी चाहिए। उसमें भारतीय राज्य फेल होता रहा। फिर मैं कहूँगा कि यह केवल भाजपा के जमाने में नहीं हुआ बल्कि ज़्यादातर तो बड़े दंगे कांग्रेस के जमाने में हुए। राज्य की असफलता हमें वहां दिखाई दी। आपने बढ़िया प्रश्न किया कि खांचों में बांटना क्या उचित है, इसके लिए मैं सबसे बड़ा दोषी लेफ्ट को मानता हूँ, जिस दुनिया से मैं भी जुड़ा हुआ हूँ। हमने बड़ी गलती यह की कि हम हिंदू सांप्रदायिकता और हिंदू कट्टरता पर तो जमकर हमला करते थे। और जैसे ही मुस्लिम कट्टरता पर बात आती थी तो हम पतली गली से निकल जाते थे। मेरा मानना है कि यह सही बात नहीं है। आपको दोनों तरह की कट्टरता पर हमला करना चाहिए। अगर आप मुस्लिम कट्टरता पर हमला नहीं कर रहे हैं तो आप एक औसत मुसलमान का ही नुकसान कर रहे हैं। मुसलमानों को यह बताना पड़ेगा कि जो 9/11 हो रहा है या दुनिया भर में और जो तमाम चीज़ें हो रही हैं, वह ठीक नहीं हैं। उसकी जगह पर यह कहना कि कुछ गुमराह हुए लोग हैं। इसका इस्लाम से कोई संबन्ध नहीं है। मैं इसमें विश्वास नहीं करता हूँ। सब मेजॉरिटी इसमें शामिल थी। इसलिए हमें उन्हें बताना पड़ेगा। उन्हें नहीं बताते हैं तो एक तरह से हम उनके साथ ज्यादती करते हैं। एक बात हम भारत सहित पूरी दुनिया के संदर्भ में कह सकते हैं कि जो मेजॉरिटी कम्युनिटी का कम्युनलिज्म होता है वह ज़्यादा ख़तरनाक होता है। वह राज्य पर कब्जा कर सकता है। राज्य मशीनरी पर कब्जा कर सकता है। माइनॉरिटी कम्युनिटी का कम्युनलिज्म अपने लोगों को नुकसान करता है। भारत में देख लीजिए। हिंदुत्व ने धीरे-धीरे राज्य पर कब्जा कर लिया। मुस्लिम कट्टरता और कम्युनलिज्म जो था वह कभी अपनी कम्युनिटी पर जुल्म ढाती है, कभी औरतों के साथ ज्यादती करती है। कभी सुन्नी, शिया के साथ, कभी शिया फलाने के साथ करते हैं। वे अपने लोगों को नुकसान पहुंचाते रहते हैं। हमें मेजॉरिटी कम्युनलिज्म पर ज़्यादा तेज हमला करना चाहिए, क्योंकि वह बड़ा ख़तरा है। लेकिन यह भी ध्यान रखना चाहिए कि माइनॉरिटी कम्युनलिज्म भी किसी तरह की दया का पात्र नहीं है।

मुझे हिंदू-मुस्लिम रिश्ते हमेशा से बड़े दिलचस्प लगते थे। मैं पुलिस में नहीं आया था। छात्र था, तब भी इनका अध्ययन करता था। समझने की कोशिश करता था। मैं भारत के संदर्भ में कह रहा हूँ। अगर हम कहीं बाहर होते, हो सकता है कि यहूदियों और इसाइयों के रिश्तों की बात होती। यहाँ तो हिंदू-मुस्लिम रिश्ते ही थे। इत्तिफाक ही था कि मैं आईपीएस में आ गया। उससे मुझे तंत्र का हिस्सा बनने का मौका मिला। उसे करीब से देखने का मौका मिला। उससे पहले जो थ्योरीटिकल मेरी समझ थी, वह यह थी कि भारतीय राज्य अपने अल्पसंख्यकों के साथ बहुत अच्छा व्यवहार नहीं कर रहा।

उसके ऊपर उतनी ही सख्ती के साथ बात होनी चाहिए।

गणेश शंकर विद्यार्थी ने इसी बात को रेखांकित किया था कि अगर हम एक कम्युनिटी के कम्युनलिज्म को बढ़ावा देंगे और दूसरे को दबाएंगे तो आने वाले सौ-दो सौ साल तक इस समस्या से जूझते रहेंगे। गांधीजी से उन्होंने इसी बात को लेकर ऐतराज जताया था।

गांधीजी ने बहुत सारी रणनीतिक गलतियां इसी चक्कर में कीं। खिलाफ़त मूवमेंट का समर्थन करना इतनी बड़ी भूल थी, इतना बड़ा नुकसान हुआ। खिलाफ़त मूवमेंट पर उन्होंने यहाँ तक कह दिया, हालांकि किसी झोंक में कहा होगा। किसी ने उनसे कहा कि पंजाब में मुसलमान मार रहे हैं हिंदुओं को तो उन्होंने कहा कि हिंदुओं को मरने के लिए तैयार रहना चाहिए। खुशी से मौत स्वीकार करनी चाहिए। यह एक वर्ग को खुश कर सकता है, लेकिन लंबे समय में तो इसका नुकसान होगा। आप मुस्लिम समुदाय में जो उदारपंथी हैं, जो आधुनिक विचारधारा के हैं, जो रोशन ख़्याल हैं, वह कमज़ोर होते हैं। इसके उलट जो कट्टरपंथी हैं उनको बढ़ावा मिलता है। कांग्रेस भी यही करती है। मैंने पहले बताया है कि 1947 में जो मुस्लिम लीगी थे, ख़ास तौर पर उत्तर प्रदेश और बिहार के दो लोगों को तो मैं जानता हूँ कि वह नहीं गए पाकिस्तान। वह रातों-रात कांग्रेसी हो गए थे। राही मासूम रज़ा के पिता गाजीपुर में मुस्लिम लीग के नेता थे। फिर कांग्रेस के नेता हो गए। सज्जाद जहीर के भाई अली जहीर मुस्लिम लीगी थे। कांग्रेसी हो गए। यह मामला गड़बड़ है। इसीलिए कांग्रेस कभी बहुत स्पष्ट स्टैंड नहीं ले पाती थी। उसका चक्कर क्या होता था, शाहबानो में मुस्लिम कट्टरता को अपीज किया तो राम जन्म भूमि का ताला खुलवा कर सोचा कि बैलेंस हो जाएगा। हिंदू इससे खुश हो जाएंगे।

वीर बहादुर सिंह और विश्वनाथ प्रताप सिंह का मुख्यमंत्रित्व कार्यकाल भी इस मामले में कोई अच्छा नहीं रहा?

जब हाशिमपुरा हुआ तो वीर बहादुर सिंह मुख्यमंत्री थे। फिर जब राम जन्म भूमि का ताला खुला तो उस समय भी वही मुख्यमंत्री थे। जाहिर है कि आप एक कट्टरता का समर्थन करके दूसरी कट्टरता को साध नहीं सकते। आप दोनों को लूज करते हैं और कांग्रेस लूज कर गई। उत्तर प्रदेश और बिहार से कांग्रेस जो खत्म हुई, उसके पीछे यह सबसे बड़ा कारण रहा।

आप महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय वर्धा में जब वाइस चांसलर बनकर गए, उसके संबंध में अगर हम थोड़ा पहले जाएं तो पंडित जवाहरलाल नेहरू ने कहा था कि विश्वविद्यालयों के वाइस चांसलर ऐसे होने चाहिए जिनके पास अपना एक विजन हो। आप जब वहां गए तो आपने बहुत सारी नई चीज़ें शुरू कीं। छात्रावासों के नाम रखे। राइटर इन रेजीडेंस जैसी व्यवस्था शुरू की। इसी कड़ी हम कई सारे काम देख़ते हैं, मसलन-हिंदी समय डॉट कॉम जैसी वेबसाइट शुरू कराई, जो बहुत बड़ा संग्रह है। वहां रहने के दौरान कौन सी ऐसी भूमिकाएं हैं, जिनको लेकर मन में संतोष होता है कि हमने उन्हें शुरू किया और अपने समय में ही सही उनका अपना एक मायने है।

विश्वविद्यालय का मेरा अनुभव बहुत अद्भुत रहा। मैंने जीवन में कभी सोचा नहीं था कि मैं किसी विश्वविद्यालय का कुलपति हो जाऊँगा। इतिहासकार बिपन चंद्र मेरी सर्च कमेटी में थे। बिपन चंद्र ने लिस्ट बना ली थी तो मुझे फोन करके पूछा कि विभूति वाइस चांसलर बनोगे। मैंने कहा, सर मैं लेक्चरर बन जाता तो आईपीएस में क्यों आता। इलाहाबाद विश्वविद्यालय में मैं सेकेंड डिवीजनर था। उस समय फर्स्ट डिवीजन जो हासिल कर लेता था वह जनरली लेक्चरर हो जाता था। एमए में

एक-आध लोगों को फर्स्ट डिवीजन मिलती थी। इत्तिफाक से वह ज़्यादातर अध्यापकों के बेटों को मिलती थी। मैं तो जानता था कि कहीं मुझे अध्यापन के लिए डिग्री कॉलेज नहीं मिलेगा। विश्वविद्यालय की तो बात ही छोड़ दीजिए। इस तरह मैं विश्वविद्यालय आ गया। मेरे लिए यह बहुत अद्भुत अनुभव था। मैं जब गया तो दो सौ एकड़ बैरन जमीन मिली थी। मेरे पूर्वाधिकारी गोपीनाथन जी थे। वह बेचारे एक-डेढ़ साल दिल्ली में ही सर टकराते रहे, फिर किसी तरह विश्वविद्यालय को वर्धा ले गए। यह बहुत बड़ी उनकी उपलब्धि थी। उन्होंने थोड़ी शुरुआत की, लेकिन जब मैं आया तो मामला शुरुआती दौर में था। मुझे एक मौका मिल गया। दो सौ एकड़ को प्लान करना। दो सौ एकड़ में इमारतें बनवाना। सडकें बनवाना। सीवर, ड्रेनेज सहित बहुत सारे हॉस्टल बनवाना। फिर हॉस्टल के नाम रखना। हिंदी विश्वविद्यालय था। जाहिर है कि हिंदी की पूरी थाती है। जो वहां दिखनी चाहिए। मैंने कोशिश की कि प्रेमचन्द और भारतेंदु से शुरू करके आज तक के यानी आप पाएंगे कि हरिशंकर परसाई तक के नाम पर हॉस्टल के नाम रखे गए। हरिशंकर परसाई के नाम पर एक सड़क भी है। मुक्तिबोध के नाम पर भवन है। यह सारी चीज़ें शुरुआती दौर में हुईं। उद्देश्य था कि हिंदी समाज का विस्तार हो। लोग उसके बारे में जानें। बाद में उसके साथ एक दुर्भाग्य हुआ। आरएसएस का जो सोचने का तरीका है, सभी लोग जानते हैं। गोरख पांडे के नाम पर मैंने एक छात्रावास बनाया। फिर एक कुलपति जी ने गोरख पांडे की प्रतिमा उखड़वा कर कहीं फिंकवा दी। नाम भी उसका बदलवा दिया, जो नये भवनों के नाम रखे गए थे। ठीक है, सत्ताधारी पार्टी को आपको खुश करना है। लेकिन वहां भी आपने श्यामा प्रसाद मुखर्जी के नाम पर एक भवन बनाया। उनका हिंदी से कोई संबंध नहीं था। अगर आपको उसी विचारधारा के आदमी के नाम पर रखना था तो डॉक्टर रघुवीर थे आपके पास। रघुवीर बड़े भाषाविद् थे। उनके नाम पर भवन बन सकता था। इस तरह के तमाम लोग, जो भाजपा के करीब हो सकते हैं, उनके नाम पर बना सकते थे। बहरहाल, अब उस पर टिप्पणी करना उचित नहीं, लेकिन मैं यह कह सकता हूँ कि मुझे बड़ा आनंद मिला। मुझसे जो हो सकता था, वह मैंने किया।

साहित्य का मैं विद्यार्थी था। भले ही मैंने हिंदी की अकादमिक पढ़ाई नहीं की, लेकिन

माइनॉरिटी कम्युनिटी का कम्युनलिज्म अपने लोगों को नुकसान करता है। भारत में देख लीजिए। हिंदुत्व ने धीरे-धीरे राज्य पर कब्जा कर लिया। मुस्लिम कट्टरता और कम्युनलिज्म जो था वह कभी अपनी कम्युनिटी पर जुल्म ढाती है, कभी औरतों के साथ ज्यादती करती है। कभी सुन्नी, शिया के साथ, कभी शिया फलाने के साथ करते हैं। वे अपने लोगों को नुकसान पहुंचाते रहते हैं। हमें मेजॉरिटी कम्युनलिज्म पर ज़्यादा तेज हमला करना चाहिए, क्योंकि वह बड़ा ख़तरा है। लेकिन यह भी ध्यान रखना चाहिए कि माइनॉरिटी कम्युनलिज्म भी किसी तरह की दया का पात्र नहीं है। उसके ऊपर उतनी ही सख्ती के साथ बात होनी चाहिए।

जाहिर है कि 30 साल से हिंदी का लेखक था। लिख रहा था। पढ़ रहा था। लोगों से संबंध थे। मैंने कोशिश की कि हिंदी भाषा और साहित्य के लिए विश्वविद्यालय एक ऐसा केंद्र बने जिसे सारा हिंदी समाज इसको अपना समझे। इसीलिए आपने देखा होगा कि दो हिंदी समय नाम के कार्यक्रम हुए। उसमें चार-पांच सौ से ज़्यादा लोग आए। अलग-अलग क्षेत्रों के लोग आए। नाटक के, फिल्मों के, पत्रकारिता के, कहानी के, कविता के, एक्टिविस्ट आदि तरह-तरह के लोग आए। हमारे छात्रों को बड़ा एक्सपोजर मिला। जो राइटर्स एंड रेजीडेंस थे, उसमें एक से एक बड़े नाम आए। आप सोचिए, उसमें विनोद कुमार शुक्ल थे। ऋतुराज थे। दूधनाथ सिंह थे। सेरा यात्री थे। उपन्यासकार संजीव थे। इन लोगों की उपस्थिति से विद्यार्थियों को एक्सपोजर मिला। किसी ने कहा कि यह करेंगे क्या, मैंने कहा कि कुछ नहीं करेंगे। सिर्फ़ इनकी उपस्थिति से छात्रों और अध्यापकों को ख़ास तरह की ऊर्जा मिलेगी। यह नहीं कि आप इन्हें कहिए-चलो तुम क्लास ले लो। हमारी कॉपी जाँच दो। इसकी ज़रूरत नहीं है। होता यह था कि जैसे विजय मोहन सिंह थे। वह बैठ गए। उनके इर्द-गिर्द सारे रिसर्च स्कॉलर और अध्यापक आकर बैठ गए। वह उनके साथ गंभीर साहित्यिक मुद्दे पर बात कर रहे हैं। हर व्यक्ति जो उनके साथ बैठता था वह इनरिच होता था।

इसी तरह हिंदी समय डॉट कॉम मैंने जान बूझ कर शुरू किया। जिस तरह की टेक्नोलॉजी आ रही है और पूरी दुनिया में हिंदी के पाठक हैं। आपको जानकर ताज्जुब होगा कि भारत के बाहर करीब 200 विश्वविद्यालयों में हिंदी किसी न किसी रूप में उपस्थित है। उनको हिंदी की किताबें आसानी से उपलब्ध नहीं होतीं। मैंने कोशिश की कि जो कुछ हिंदी में महत्वपूर्ण छपा हो, वह सब ऑनलाइन उपलब्ध हो जाए। जाहिर है यह बहुत बड़ा काम था। कुछ समय में पूरा नहीं हो सकता था, लेकिन डेढ़-दो लाख पृष्ठ तो हिंदी समय डॉट कॉम पर उपलब्ध हैं ही। कुल मिलाकर जितनी मेरी सामर्थ्य थी, जितनी मेरी क्षमता थी, वह मैंने करने की कोशिश की। मुझे आनंद आता है, उसके बारे में जब सोचता हूँ।

कुछ पांडुलिपियों को भी संग्रहीत किया है?

जी, वहां का जो संग्रहालय है उसमें देश भर से ढूंढ-ढूंढ कर पांडुलिपियां लाई गईं। पत्रों का अद्भुत संकलन है। प्रेमचन्द तक के पत्र वहां उपलब्ध हैं। अब तो पत्र लिखने का चलन खत्म हो रहा है। आज की पीढ़ियां जब देखेंगी पोस्टकार्ड पर प्रेमचन्द के हाथ की लिखावट तो उन्हें आनंद आएगा। वह भी जुटाने का काम किया। बहुत सी पुरानी पत्र-पत्रिकाएं जुटाईं। कुछ लेखकों के पूरे के पूरे संग्रह लाए गए। उनका जो निजी पुस्तकालय था वह सब लाने का काम किया। चार-पांच साल में जितना कर सकता था, वह मैंने किया। मुझे संतोष है कि मैं वह कर पाया।

आपके पहले क्या विश्वविद्यालय को दिल्ली के आसपास स्थापित करने की एक बड़ी बहस चलाई गई?

दुर्भाग्य था कि अशोक बाजपेयी इस विश्वविद्यालय के पहले कुलपति थे। वह दिल्ली छोड़ना नहीं चाहते थे। वह पांच साल दिल्ली में ही बैठे रहे। वर्धा गए ही नहीं। उन्होंने यह सुनिश्चित किया कि जब वह रिटायर होने लगें तब वर्धा में जमीन मिले ताकि कोई यह न कहे कि आप जाइए। नहीं भी जमीन मिलती तो भाई जहां के लिए विश्वविद्यालय बना है, वहां आपको जाना चाहिए। किराए के कमरे में रहिए। किराए का मकान लीजिए। हर जगह विश्वविद्यालय बनते हैं। इसी तरह शुरू होते हैं। हमारा विश्वविद्यालय दिल्ली से चलता रहा। जब गोपीनाथन जी दूसरे कुलपति के रूप में आए तो उनको यह क्रेडिट दिया जाना चाहिए कि उन्होंने कहा कि हम वर्धा

अशोकजी बड़े विजनरी हैं। बहुत सारी संस्थाएं बनाईं। यह संस्था भी वह बना सकते थे। अगर वह समय से गए होते। चूंकि वह वहां रहते नहीं थे इसलिए भारत सरकार का मानव संसाधन विकास मंत्रालय लगातार उनको लिख़ता था। कहता था कि आप जाइए। इसके उलट वह जाना नहीं चाहते थे। इसलिए अशोकजी जब भी फैकल्टी के रूप में कोई नियुक्ति करना चाहते थे तो वह नहीं कर पाते थे। उसके लिए विजिटर नॉमिनी की ज़रूरत होती थी। जब वह चिट्ठी लिख़ते कि साहब हमने यह नये विभाग खोले हैं, जिसके लिए अध्यापक नियुक्त करना चाहते हैं। हमें विजिटर नॉमिनी दीजिए। वैसे ही मंत्रालय लिख़ता था कि आप वर्धा चले जाइए। हम आपको विजिटर नॉमिनी दे देंगे। जाहिर है कि वह वर्धा जाना नहीं चाहते थे। वह बड़े दिलचस्प पत्र हैं। विश्वविद्यालय के दफ्तर में उपलब्ध हैं। उनका जो दिल्ली वाला आग्रह था उसकी वजह से पांच साल विश्वविद्यालय का नुकसान हुआ।

चलेंगे। लेकिन उनका यहाँ विरोध हुआ, क्योंकि यहाँ एक वेस्टर्न इंटरेस्ट डेवलप हो गया था। अशोकजी के जमाने में जो कर्मचारी नियुक्त हुए थे वह दिल्ली छोड़ना नहीं चाहते थे। इसके बावजूद गोपीनाथन जी साल-डेढ़ साल की जद्दोजहद करके वर्धा पहुंच गए। इस यात्रा में काफी कुछ नष्ट हुआ। बहुत सारे दस्तावेजों को नुकसान पहुंचा। पुस्तकालय की चीज़ें नष्ट हुईं। पर, बड़ी बात यह है कि वह किसी तरह पहुंचे। वहां जाकर दो सौ एकड़ जमीन पर कब्जा लिया। धीरे-धीरे छोटी-मोटी चीज़ें बनानी शुरू कीं। यह एक दिक्कत रही। अशोकजी अगर शुरू में चले गए होते तो इतनी परेशानी नहीं आती। देखिए, अशोकजी बड़े विजनरी हैं। बहुत सारी संस्थाएं बनाईं। यह संस्था भी वह बना सकते थे। अगर वह समय से गए होते। चूंकि वह वहां रहते नहीं थे इसलिए भारत सरकार का मानव संसाधन विकास मंत्रालय लगातार उनको लिख़ता था। कहता था कि आप जाइए। इसके उलट वह जाना नहीं चाहते थे। इसलिए अशोकजी जब भी फैकल्टी के रूप में कोई नियुक्ति करना चाहते थे तो वह नहीं कर पाते थे। उसके लिए विजिटर नॉमिनी की ज़रूरत होती थी। जब वह चिट्ठी लिख़ते कि साहब हमने यह नये विभाग खोले हैं, जिसके लिए अध्यापक नियुक्त करना चाहते हैं। हमें विजिटर नॉमिनी दीजिए। वैसे ही मंत्रालय लिख़ता था कि आप वर्धा चले जाइए। हम आपको विजिटर नॉमिनी दे देंगे। जाहिर है कि वह वर्धा जाना नहीं चाहते थे। वह बड़े दिलचस्प पत्र हैं। विश्वविद्यालय के दफ्तर में उपलब्ध हैं। उनका जो दिल्ली वाला आग्रह था उसकी वजह से पांच साल विश्वविद्यालय का नुकसान हुआ।

'वर्तमान साहित्य' की शुरुआत कहाँ से हुई और उसे निकालने के पीछे की क्या कहानी है?

हम लोग जब छात्र थे तो 'वर्तमान' नाम से एक साइक्लोस्टाइल पत्रिका निकालते थे। चार-पांच लोग थे। कृष्ण प्रताप, रामजी राय, दिनेश शुक्ला और मैं। उर्मिलेश भी कुछ दिन जुड़े रहे। यह पहले साइक्लोस्टाइल निकाली गई। फिर छपवा करके निकलने लगी। जितने साधन थे छात्र की हैसियत से, उसमें काम किया। चार अंक तो छपे हुए भी निकले। फिर वह बंद हो गई। जाहिर है कि सभी लोग अपनी-अपनी नौकरियों के चक्कर में चले गए। फिर जब मैं वापस स्थिर हुआ तो योजना बनाई कि इसे निकाला जाए। 'वर्तमान' नाम हमें मिला नहीं। आरएनआई में हमें 'वर्तमान साहित्य' नाम मिला। 'वर्तमान' नाम जगदीश चतुर्वेदी या कोई सज्जन थे जो रजिस्टर्ड करा रखे थे। हालांकि उन्होंने कोई अंक नहीं निकाला, लेकिन उनके नाम रजिस्टर्ड था। ऐसे में हम कुछ नहीं कर सकते थे। हमें 'वर्तमान साहित्य' नाम मिला। उसी नाम से शुरू किया। अखिलेश ने पहले अंक का संपादन किया। आप जानते ही हैं कि अखिलेश अच्छे संपादक हैं। इसलिए वह पहले ही अंक से चर्चा में आ गई। फिर अखिलेश चले गए। इस तरह एक यात्रा शुरू हुई। कई लोग आए। कई लोग चले गए। नए-नए लोग जुड़ते रहे। कुछ पीछे छूटते रहे। बाद में 'वर्तमान साहित्य' ने कुछ बड़े अद्भुत अंक निकाले। इसमें शताब्दी कहानी, शताब्दी कविता, शताब्दी नाटक, शताब्दी सिनेमा जैसे अंक शामिल हैं। यह अंक जनवरी, फरवरी और मार्च 2000 में निकले। उसके पहले कहानी महाविशेषांक रविंद्र कालिया के संपादन में निकल चुका था। वह भी काफी चर्चित रहा था। कविता अंक निकल चुका था राजेश जोशी के संपादन में, वह भी बड़ा महत्वपूर्ण अंक रहा। इस तरह 'वर्तमान साहित्य' ने अपनी एक ऐसी उपस्थिति बना ली थी, जिसकी आप उपेक्षा नहीं कर सकते थे।

दो अंक विभाजन पर भी आए थे?

विभाजन पर भी आए थे। विभाजन मेरी दिलचस्पी का क्षेत्र है। विभाजन पर जितनी महत्वपूर्ण रचनाएं थीं। पंजाबी में, उर्दू में, अंग्रेजी में, हिंदी में, हमने सोचा था कि वे सभी आ जाएं। इस पर चली बहसें उन अंकों में आएं तो वह भी आईं।

अभी कई क्षेत्रों में आपकी सक्रियता नज़र आती है। लेखन के साथ प्रगतिशील लेखक संघ में लंबे समय से सक्रिय हैं। 'वर्तमान साहित्य' का अभी साक्षात्कार विधा पर एक अंक आया है। आम तौर से साहित्य में साक्षात्कार की जो विधा है उसको केंद्रीय महत्व नहीं मिला। पूरा अंक साक्षात्कारों पर केंद्रित करने की योजना के पीछे क्या उद्देश्य रहा?

असल में यह संजय श्रीवास्तव का बड़प्पन है कि वह मेरा नाम देते हैं। वैसे मेरा अब 'वर्तमान साहित्य' से लाइव कांटेक्ट नहीं है। उससे जुड़े सारे फैसले संजय लेते हैं। वह अच्छी पत्रिका निकाल रहे हैं। हालांकि, नियमित नहीं निकाल पा रहे हैं। तीन-चार महीने में एक-आध अंक निकालते हैं, लेकिन सभी फैसले वही करते हैं। साक्षात्कार वाला अंक अच्छा निकाला था। बहुत सारे महत्वपूर्ण साक्षात्कार जो इधर-उधर पहले छपे थे। वह एक जगह ले आए। कुछ नये साक्षात्कार भी उन्होंने कराए।

आपके कौन से प्रिय लेखक रहे हैं, अपने को आप किस परंपरा में रखना चाहेंगे?

देखिए, किसी एक परंपरा में कहना तो थोड़ा मुश्किल है। मेरा मानना है कि एक पूरा प्रवाह है। जैसे तुलसीदास कहते थे कि वह स्वान्तः सुखाय लिख रहे हैं तो वह सच नहीं था। आप एक लंबी परंपरा के अंग होते हैं। आप से पहले सैकड़ों लेखक गुजरे हैं। उनकी भाषा है। उनका शिल्प है। उनकी संवेदना है। वह सब आपको कहीं न कहीं से मिलती है। अपना समय आपको मिलता है। ऐसे

में किसी एक लेखक की परंपरा में कहना उचित नहीं है। हां, यह फैशन की तरह कहा जा सकता है कि मैं प्रेमचन्द की परंपरा का लेखक हूँ, मुझे नहीं लगता कि यह उचित होगा। फिक्शन या कथा साहित्य मेरा प्रिय विषय रहा। मैं ज़्यादातर उसी को पढ़ता रहा। मार्खेज मुझे अद्भुत उपन्यासकार लगे। मुझे लगता है कि किस्सागोई में विश्व साहित्य में मार्खेज का कोई सानी नहीं है। जो रूसी कथाकार थे ख़ास तौर से रूसी क्रांति के पहले। यह मजेदार बात है क्रांति के बाद तो वहां सारा घटिया लेखन हुआ, लेकिन क्रांति के पहले जो लिखा गया, जिसमें चेखव थे। तुर्गनेव थे। टॉलस्टाय थे। मैक्सिम गोर्की थे। मैक्सिम गोर्की क्रांति के पहले और क्रांति के बाद जब लेखक संघ के सचिव हो गए, उनके लेखन में बहुत फर्क दिखाई देता है। यह सब महत्वपूर्ण लेखक थे। हिंदी में राही मासूम रजा मेरे बहुत प्रिय रहे हैं। फणीश्वर नाथ रेणु मेरे प्रिय रहे हैं। ऐसे में किसी एक का नाम लेना उचित नहीं है। जो हमारी थाती है। जो हमारे पूर्वज हैं। वह इतनी विशाल संख्या और परिमार में हैं कि आपको खुद भी नहीं पता होता कि किसने और कहाँ आपको प्रभावित किया है। लिख़ते समय कौन सी चीज़ आप कहाँ से ले रहे हैं, यह भी कई बार अंदाज नहीं लगता।

आम तौर से रचना प्रकिया की जब बात होती है तो लोग कहते हैं कि रचना अपना आकार स्वयं लेती है और आपने कहा है कि जैसे ही पात्र मेरी पकड़ में आ जाता है, मैं अपनी तरह से उसको नचाता हूँ। क्या इस बात को स्पष्ट करना चाहेंगे?

इसमें दो चीज़ें हैं। एक तो मैं बड़ा आलसी लेखक हूँ। इतने साल से लिख रहा हूँ। मेरे अब तक छह उपन्यास आए। फिर यह छिटपुट गद्य लेखन है। अखबारों वगैरह में लिख़ता हूँ। मेरे ज़्यादा उपन्यास आने चाहिए थे। लेकिन जहां तक पात्र की बात है वह मेरे दिमाग में सालों में तैयार होता है। वह साथ में चलता रहता है। जब मैं लिख़ता हूँ, जिससे शुरुआत करता हूँ, ज़रूरी नहीं है कि जो सोच करके मैंने शुरुआत की है उसी तरह उसका अंत भी हो। जब मैं कहता हूँ कि मेरी पकड़ में वह होता है। सही में मैं उसे अपनी तरह से घुमाता हूँ। कई बार शुरुआत में जो कांसेप्ट होता है, अंत होते-होते पूरी तरह से बदल जाता है। पात्र एकदम से ऐसा हो जाता है जिसको मैंने जब कंसीव किया था, जो उसका चेहरा था, वह बदला हुआ नज़र आता है। मेरा अपना मानना है, बहुत सारे लोग इससे सहमत नहीं हैं कि क्रिएटर के तौर पर पात्र जब मेरे पास आ जाता है तो फिर उस पात्र की कोई स्वतंत्र सत्ता बचती नहीं है। फिर मैं अपनी तरह से उसको गूंथता हूँ।

लेखन के दौरान लेखकों के अपने अलग-अलग किस्से रहे हैं। किसी को एकान्त चाहिए होता है। कई लोगों का मानना है कि लिखने का क्रम तब शुरू होता है जब उनकी टेबल अस्त-व्यस्त होती है। आप से अगर पूछा जाए कि लेखक का कोना कैसा होता है तो क्या कहेंगे?

मैं सबको निराश करूँगा, क्योंकि मुझे इस तरह की किसी चीज़ की ज़रूरत नहीं पड़ती। मैं जब सबसे व्यस्त नौकरियों में था। जब मैं जिलों की कप्तानी कर रहा था। वह दस साल का दौर है, जिसमें सबसे ज़्यादा व्यस्त था। उस समय सबसे ज़्यादा लिखा। पढ़ा भी उस समय सबसे ज़्यादा। मेरी एक आदत थी कि बिना कुछ पढ़े रात में सोता नहीं था। यात्राएं बहुत करनी होती थीं। मीलों घंटों कार में बैठकर चलना होता था। कभी ट्रेन से तो कभी जहाज से यात्राएं करनी होती थीं। उस समय का उपयोग मैं पढ़ने में करता था। सारी पत्रिकाएं उसी दौरान पढ़ता था। मुझे कभी इसकी ज़रूरत नहीं पड़ी। कोई एकांत हो। कोई अंधेरा हो। कहीं अस्त-व्यस्त कोना हो या बहुत व्यवस्थित कोना हो। मैं तो कहीं भी बैठ कर बल्कि आम तौर से पिछले दसियों साल से काग़ज़ और कलम की ज़रूरत खत्म हो गई है। अपना छोटा सा लैपटॉप या आजकल आईपैड है, वह लेकर बैठ जाता हूँ। बगल के कमरे में शोर भी होता रहता है। दो पत्र-पत्रिकाओं के लिए कॉलम लिख़ता हूँ तो यहीं बैठकर अपना करता रहता हूँ। ऐसे में मुझे किसी ख़ास वातावरण या कोने की ज़रूरत नहीं पड़ती। दूसरी चीज़ कि मुझे कई बार आश्चर्य होता है कि मैं जहां लिखना छोड़ता हूँ उसके कई महीने बाद या कई साल बाद जब शुरू करता हूँ तो पता नहीं यह कैसी दिमागी संरचना है कि मैंने जहां छोड़ा था वहीं से आगे बढ़ा देता हूँ। मुझे कोई दिक्कत नहीं होती। पीछे का पूरा पढ़ने की ज़रूरत नहीं पड़ती। कहीं न कहीं अंदर बैठा रहता है कि इसके बाद क्या लिखना था। वहीं से वह शुरू हो जाता है। फिर मैं कहूँगा यह हर लेखक की व्यक्तिगत रचना प्रकिया है। यह ज़रूरी नहीं कि जिस तरह मैं लिख़ता हूँ वही प्रकिया सही है। उसी तरह लोगों को लिखना चाहिए।

प्रगतिशील लेखक संघ का सुनहरा इतिहास रहा है। वर्तमान में आप उसके कार्यकारी अध्यक्ष हैं, लेकिन मौजूदा समय में जो चुनौतियां हैं, उसमें प्रगतिशील लेखक संघ की भूमिका आप कैसे देख़ते हैं?

मुझे नहीं लगता है कि प्रगतिशीय लेखक संघ की अब कोई भूमिका बची है। आपने सही कहा कि प्रगतिशील लेखक संघ का बड़ा सुनहरा इतिहास रहा है। वह संघर्ष का दौर था। त्याग का महत्व था। मूल्य अहम थे। लेकिन यह भी सही है कि जितने भी लेखक संघ थे, जो अभी तक जिंदा हैं वह किसी न

मुझे नहीं लगता है कि प्रगतिशीय लेखक संघ की अब कोई भूमिका बची है। आपने सही कहा कि प्रगतिशील लेखक संघ का बड़ा सुनहरा इतिहास रहा है। वह संघर्ष का दौर था। त्याग का महत्व था। मूल्य अहम थे। लेकिन यह भी सही है कि जितने भी लेखक संघ थे, जो अभी तक जिंदा हैं वह किसी न किसी राजनीतिक दल से जुड़े थे। भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी का प्रगतिशील लेखक संघ था। मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी का जनवादी लेखक संघ था। भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी लेनिनवादी) का जन संस्कृति मंच था। बाकी किसी राजनीतिक दल का कोई लेखक संगठन नहीं था। यह जनसंधी क्या बनाएंगे। कौन सा लेखक संघ बनाएंगे। कोई मुख्यधारा का लेखक उनको मिलेगा नहीं। कांग्रेस तो लेफ्ट वालों को ही कोआप्ट कर लेती थी। जो लेफ्ट का होता था वह उसका भी हो जाता था। सोवियत रूस के पतन के बाद कम्युनिस्ट पार्टियों की हैसियत खत्म हो गई। चीन ने जिस तरह से अपनी पूरी राजनीतिक लाइन बदली तो वहां उनकी हैसियत खत्म हो गई। ऐसे में मुझे नहीं लगता कि लेखक संगठनों की कोई बहुत भूमिका बची है या कोई कलेक्टिव प्रेशर यह डाल सकते हैं।

किसी राजनीतिक दल से जुड़े थे। भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी का प्रगतिशील लेखक संघ था। मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी का जनवादी लेखक संघ था। भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी लेनिनवादी) का जन संस्कृति मंच था। बाकी किसी राजनीतिक दल का कोई लेखक संगठन नहीं था। यह जनसंघी क्या बनाएंगे। कौन सा लेखक संघ बनाएंगे। कोई मुख्यधारा का लेखक उनको मिलेगा नहीं। कांग्रेस तो लेफ्ट वालों को ही कोआप्ट कर लेती थी। जो लेफ्ट का होता था वह उसका भी हो जाता था। सोवियत रूस के पतन के बाद कम्युनिस्ट पार्टियों की हैसियत खत्म हो गई। चीन ने जिस तरह से अपनी पूरी राजनीतिक लाइन बदली तो वहां उनकी हैसियत खत्म हो गई। ऐसे में मुझे नहीं लगता कि लेखक संगठनों की कोई बहुत भूमिका बची है या कोई कलेक्टिव प्रेशर यह डाल सकते हैं। इंडीविजुअल लेखक अब महत्वपूर्ण हो गया है। समाज में इतना सब कुछ होने के बाद भी आपको एक भी लेखक ऐसा नहीं मिलेगा जो हिंसा के पक्ष में लिख़ता हो। हिंसा के पक्ष में लिख कर वह बड़े लेखकों में शुमार होता हो। मॉब लिंचिंग के पक्ष में लिखकर क्या आप बड़े लेखक हो सकते हैं। क्या बड़ा पाठक समुदाय आपका समर्थन करेगा। ध्यान रहे, मॉब लिंचिंग के खिलाफ़ लिखेंगे तभी आपकी स्वीकृति होगी। मॉब लिंचिंग का मैंने एक उदाहरण दिया। मान लीजिए भारत और पाकिस्तान के बीच युद्ध हो रहा है। तनाव है। राष्ट्र एक अवधारणा है। उसको लेकर सभी के मन में अलग-अलग तरह की भावनाएं होंगी, लेकिन युद्ध के पक्ष में कोई बड़ा लेखक नहीं लिखेगा। हमेशा युद्ध के विरोध में लिखेगा। इंडीविजुअल भूमिका तो लेखक की है ही। इसी का कलेक्टिव रूप समाज के लिए फायदेमंद है। मैंने मॉब लिंचिंग का जिक्र किया। इसको लेकर समाज में घृणा है। तकलीफ है। वह कहाँ से आती है। वह इसी तरह मिल जुल कर आती है। किसी ने कविता लिखी होगी। किसी ने कहानी लिखी होगी। कोई नुक्कड़ नाटक कर रहा होगा। यह देखकर लोगों की संवेदनाएं विकसित होती हैं। कहीं न कहीं आपके दिमाग पर असर पड़ता है। वह आपको इस तरह की गतिविधियों का विरोध करने को लेकर प्रेरित करता है। इसलिए मुझे नहीं लगता कि लेखक संगठनों की भूमिका बची है। बावजूद इसके कि मैं तो प्रगतिशील लेखक संघ का कार्यकारी अध्यक्ष हूँ। उसके बाद भी

आज वैसा लिखना मुश्किल होगा। मुश्किल क्या, बहुत ही मुश्किल हो गया है। आज का सत्ता वर्ग जिस तरह का व्यवहार कर रहा है, वह मुश्किल है। क्या हिंदी समाज ने इसीलिए किसी तरह की पोजीशन लेनी बंद कर दी है कि आज के दौर में चीज़ें मुश्किल हो गई हैं या स्वभाव से ही वह ऐसा है। जैसा धूमिल कहते थे कि हिंदी प्रदेश कायर प्रदेश है। हालांकि यह बड़ा जटिल मामला है। सरलीकृत करके इसका उत्तर नहीं दिया जा सकता। वैसे आप सही कह रहे हैं कि मलयालम में, बंगला में, मराठी में, कन्नड़ में, तेलुगु और तमिल में ऐसे लोग मिलेंगे, जिन्होंने काफी सहा है। प्रताड़ना झेली है। प्रतिबंध झेला है। उनके बीच से हत्याएं हुई हैं। कर्नाटक में देखिए। चार-चार, पांच-पांच लोगों की हत्याएं हुईं। हिंदी में उस तरह नहीं हुआ, कारण यही रहा होगा कि हमारा लेखक उस तरह कभी ख़तरा और चुनौती बनकर उभरा नहीं। जो भी रहा हो। इसका जवाब देना थोड़ा मुश्किल है।

मैं यह कह रहा हूँ। अब रस्म अदायगी होती है। हमारा प्रगतिशील लेखक संघ यही करता है। जनवादी लेखक संघ भी यही करता है और जन संस्कृति मंच भी यही करता है। कहीं कोई घटना हो जाती है तो व्हाट्सअप ग्रुप पर एक स्टेटमेंट जारी हो जाता है। फिलिस्तीन-इजराइल की लड़ाई का कितने लेखक विरोध कर रहे हैं। रोज इतने लोग मारे जा रहे हैं, जो गलत है। इसको रोका जाए। इसको लेकर कितने लेखक सड़क पर उतरे। सड़क पर सौ पचास लेखक इकट्ठे भी कर लीजिए तो क्या समाज पर कोई कलेक्टिव असर डाल पाएंगे। मुझे लगता है कि फिलिस्तीन और इजराइल के मसले पर जो लोग कविताएं लिख रहे हैं। कहानियां लिख रहे हैं, उनका अलग-अलग तरह से समाज पर ज़रूर असर पड़ रहा है। सौ लोग एक कविता को पढ़ते हैं तो दो लोगों के मन में कम से कम घृणा पैदा होती है हिंसा के लिए। इस तरह से इंडीविजुअल असर ही पड़ रहा है। मुझे नहीं लगता कि कलेक्टिव असर किसी लेखक संगठन का पड़ रहा है।

एक और प्रश्न मन में आ रहा है। हिंसा की जो भी घटनाएं हुई हैं कलम को लेकर, उसमें हिंदी से इतर भाषाओं के लोग ज़्यादा निशाने पर रहे हैं। अभी तक का जो इतिहास रहा है उसमें हिंदी के लोग उस तरह से निशाने पर नहीं हैं या यह कहा जाए कि हिंदी के लोग बहुत सेफ खेलते हैं। इसको आप कैसे देख़ते हैं?

आप सही कह रहे हैं। हिंदी के लेखकों के बारे में क्या कहें। मैं भी उसी समाज का अंग हूँ, लेकिन हमें नहीं लगता कि यह कोई बहुत प्रतिद्वंद्वी समाज है। हालांकि 1857 वगैरह का उदाहरण देखिए तो एकदम उलट था। लेकिन कितने हिंदी के लेखक जेल गए होंगे। लोग अपने बारे में अफवाहें फैला देते थे। श्रीलाल शुक्ल जी ने फैला दिया कि 'राग दरबारी' के लिए मुझे कई धमकियां मिलीं। ख़ुद श्रीलाल जी ने मुझसे यह बात स्वीकार की। 'राग दरबारी' को लेकर राजनीतिक सहित किसी तरह की कोई चुनौती उनके सामने नहीं थी। मैं लिख़ता रहा। वैसे मैं अभी भी सोचता हूँ कि उस समय की जो राजनीति थी, अल्पसंख्यकों के प्रति जो उसका व्यवहार था, मैंने उसके खिलाफ़ लिखा। लेकिन उस समय स्थितियां ज़्यादा बेहतर थीं।

क्या आज उस तरह का लेखन संभव है?

आज वैसा लिखना मुश्किल होगा। मुश्किल क्या, बहुत ही मुश्किल हो गया है। आज का सत्ता वर्ग जिस तरह का व्यवहार कर रहा है, वह मुश्किल है। क्या हिंदी समाज ने इसीलिए किसी तरह की पोजीशन लेनी बंद कर दी है कि आज के दौर में चीज़ें मुश्किल हो गई हैं या स्वभाव से ही वह ऐसा है। जैसा धूमिल कहते थे कि हिंदी प्रदेश कायर प्रदेश है। हालांकि यह बड़ा जटिल मामला है। सरलीकृत करके इसका उत्तर नहीं दिया जा सकता। वैसे आप सही कह रहे हैं कि मलयालम में, बंगला में, मराठी में, कन्नड़ में, तेलुगु और तमिल में ऐसे लोग मिलेंगे, जिन्होंने काफी सहा है। प्रताड़ना झेली है। प्रतिबंध झेला है। उनके बीच से हत्याएं हुई हैं। कर्नाटक में देखिए। चार-चार, पांच-पांच लोगों की हत्याएं हुईं। हिंदी में उस तरह नहीं हुआ, कारण यही रहा होगा कि हमारा लेखक उस तरह कभी ख़तरा और चुनौती बनकर उभरा नहीं। जो भी रहा ■